नाथ-सम्प्रदाय

हजारीप्रसाद द्विवेदी

१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१

स्वर्गीय गुरुदेव को

दूसरे संस्करण की भूमिका

नाथ-सप्रदाय का यह दूसरा सस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से प्रकाशित हुआ था। जिन दिनो यह पुस्तक लिखो गई थी उन दिनो इस विपय पर कोई पुस्तक नही थी। इसके विभिन्न अगो पर विद्वानो ने कुछ कुछ लिखा अवश्य था पर मपूर्ण सम्प्रदाय का परिचय उनसे नही मिलता था। इधर इस दिशा मे अनेक शोधी विद्वान् प्रयत्नशील हुए हैं और वहुत-कुछ लिखा जा रहा है। फिर भी नित्य आते रहने वाले पत्रो से लगता है कि जिज्ञासु पाठक इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हिंदुस्तानी एकेडेमी ने कृपापूर्वक इसके नये सस्करण के प्रकाशन का अधिकार नैवेद्य-निकेतन (वाराणसी) को दिया है। अव यह वही से प्रकाशित हो रहा है। इस नये मस्करण मे कुछ नई जानकारियाँ वढाई अवश्य गई है पर यथामभव पुस्तक के पुराने ढांचे को ज्यो-का-त्यो रहने देने का प्रयत्न किया गया है।

जैसे-जैसे नाथ सप्रदाय के विस्तार और प्रभाव की जानकारी प्राप्त होती जा रही है वैसे-वैसे इसका असाधारण महत्त्व भी स्पष्ट होता जा रहा है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास मे इस सप्रदाय का वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन रहा है और वाद मे भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा है। आधुनिक भारतीय भापाओ मे से प्रायः सवके साहित्यिक प्रयत्नो की पृष्ठभूमि मे इसका प्रभाव सक्रिय रहा है। आधुनिक भारतीय भापाओ के साहित्य की प्रेरक शक्तियो का अध्ययन इस सप्रदाय के अध्ययन के विना अधूरा ही रह जायगा।

पुस्तक के प्रथम सस्करण का विद्वानो ने स्वागत किया है। प्रायः इसके विपय मे उत्साहवर्द्धक पत्र मिलते रहे हैं। मैं उन सहृदय विद्वान् पाठको के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाकर इसका गौरव वढाया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

१

नाथ-संप्रदाय का विस्तार

१ नाम

सांप्रदायिक ग्रंथो मे नाथ-सप्रदाय के अनेक नामो का उल्लेख मिलता है। 'हठयोग प्रदीपिका की टीका' (१-५) मे ब्रह्मानद ने लिखा है कि सब नाथो मे प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वय शिव ही हैं— ऐसा नाथ-सप्रदाय वालो का विश्वास है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानद इस सप्रदाय को 'नाथ-सप्रदाय' नाम से ही जानते थे[१]। भिन्न-भिन्न ग्रथा मे बराबर यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात् नाथ द्वारा कथित है। परतु सप्रदाय मे अधिक प्रचलित शब्द हैं, सिद्ध-मत (गो० सि० स०, पृ० १२) सिद्ध-मार्ग (योगबीज), योगमार्ग (गो० सि० स० पृ० ५, २१) योग-सप्रदाय (गो० सि० स०, पृ० ५८), अवधूत-मत (पृ० १८), अवधूत-सप्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि। इस मत के योग मत और योग-सप्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं, क्योकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिये कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रथ 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अट्ठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे काशी के बलभद्र पडित ने सक्षिप्त करके सिद्ध-सिद्धान्त-सग्रह नामक ग्रथ लिखा था। इन ग्रथों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध-मत' कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुत वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते हैं, परन्तु इस सप्रदाय मे यह अर्थ नही स्वीकार किया जाता। इन लोगो के मत से सिद्धो द्वारा निर्णीत या व्याख्यात तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता है (गो० सि० स०, पृ० १८), इसीलिये अपने सप्रदाय के ग्रथो को ही ये लोग 'सिद्धान्त-ग्रथ' कहते हैं। नाथ सप्रदाय मे प्रसिद्ध है कि शकराचार्य अन्त मे नाथ-सप्रदाय के अनुयायी हो गए और उसी अवस्था मे उन्होंने 'सिद्धान्त-बिंदु' ग्रथ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवधूत-मत' भी कहते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह' मे लिखा है कि हमारा मत

---

१ आदिनाथ सर्वेषा नाथाना प्रथम., ततो नाथसप्रदाय प्रवृत्त इति नाथ-सप्रदायिनो वदन्ति।

तो अवधूत मत ही है (अस्माक मत त्ववधूतमेव, पृ० १८)। कबीरदास ने 'अवधू' (=अवधूत) को सबोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान मे रखा है। कभी-कभी इस मत के ढोगी साधुओ को उन्होंने 'कच्चे सिद्ध' कहा है।[१] गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरू मे ही 'सिद्ध-मत' की भक्ति-हीनता'[२] की ओर इशारा किया है। गोस्वामीजी के ग्रथो से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था।[3] मेरा अनुमान है कि 'रामचरित मानस' के आरभ मे शिव की वदना के प्रसग मे जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं, इन्ही दो गुणो (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव मे 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नही देख पाते',[४] तो उनका तात्पर्य इन्ही नाथपथियो से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामीजी इस मत को 'सिद्ध-मत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय मे भी बहुत समादृत है और इसकी परपरा बहुत पुरानी मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के 'कौल ज्ञान निर्णय' के सोलहवे पटल से अनुमान होता है कि वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम 'सिद्ध कौल सम्प्रदाय' था। डॉ० बागची ने लिखा है कि बाद मे उन्होने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था उसका नाम 'योगिनी कौल मार्ग' था। आगे चलकर इस बात की विशेष आलोचना करने का अवसर आएगा।

---

१ कच्चे सिद्धन माया प्यारी।—बीजक, ६९वी रमैनी।

२. (१) लियोनार्ड ने अपने 'नोट्स आन दि कन-फटा योगीज' नामक प्रबध मे दिखाया है कि गोरक्षनाथ भक्ति मार्ग के प्रतिद्वद्वी थे। देखिए इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २९९।

(२) नाथ योगियो और भक्तो की तुलना के लिये देखिए—कबीर, पृ० १५३-४।

३ बरन धरम गयो आस्रम निवास तज्यो
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुबासना बिनास्यो ज्ञान
बचन बिराग वेस जतन हरो सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
निगज नियोग ते सो केलि ही छरी सी है।
कांय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि
राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, ८४।

४. भवानी शकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा. स्वान्त स्थमीश्वरम्॥

यहाँ इतना ही कह रखना पर्याप्त है कि यह सिद्ध कौल मत ही आगे चल कर नाथ-परंपरा के रूप में विकसित हुआ ।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में इस सिद्ध मत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि कर्कशतर्कपरायण वेदान्ती माया से ग्रसित हैं, भाट्ट मीमांसक कर्म-फल के चक्कर में पड़े हुए हैं, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत-बुद्धि से ही मारे गए हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं, फिर सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन, ये सब लोग व्यर्थ के कष्टकल्पित मार्ग में भटक रहे हैं, फिर, होम करने वाले बहु दीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थों में भटकने वाले पुण्यार्थी बेचारे दुःख-भार से दबे रहने के कारण तत्त्व से शून्य रह गए हैं,—इसलिए एक मात्र स्वाभाविक आचरण के अनुकूल सिद्ध-मार्ग का आश्रय करना ही उपयुक्त है ।[1] यह सिद्धमार्ग नाथ मत ही है । 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है । श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है ।[2] फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष है, उसका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला । चूँकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसीलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है ।[3]

---

१. वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टा कर्मफलाकुला हृतधियो द्वैतेन वैशेषिका ।
अन्ये भेदरता विपादविकलास्ते तत्त्वतो वञ्चिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ।
सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपरा. संन्यासिनस्तापसा ।
सौरा वीरपरा प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिना श्रावका ।
एते कष्टरता वृथा पथगता ते तत्त्वतो वञ्चिता—
स्तस्मात् सिद्धमत० ।
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा ।
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौनेस्थिता नित्यश ।
एते ते खलु दुःखभागनिरता ते तत्त्वतो वञ्चिता—
स्तस्मात् सिद्धमत० ।

२ राजगुह्य में—नाकारोऽनादि रूप थकार स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैक. श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ।

३ शक्ति संगम तन्त्र में—श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ।।

२. बौद्ध और शाक्त मतो का अन्तर्भाव

यह विश्वास किया जाता है कि आदिनाथ स्वय शिव ही है[1] और मूलत समग्र नाथ-सप्रदाय शैव है। सब के मूल उपास्य देवता शिव हैं। गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह (पृ० १८) मे शकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कहानी दी हुई है। पराभव एक कापालिक द्वारा हुआ था। कहानी कहने के बाद ग्रथकार को सदेह हुआ है कि पाठक कही कापालिक के विजय से उल्लमित होने के कारण ग्रथकार को भी उसी मत का अनुयायी न मान लें, इसलिये उन्होने इस शका को निर्मूल करने के लिये कहा है कि ऐसा कोई न समझे कि हम कापालिक मत को मानते हैं। मत तो हमारा अवधूत ही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कापालिक मत को भी श्री 'नाथ' ने ही प्रकट किया था, क्योंकि 'शावरतत्र' मे कापालिको के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ का ही है और बारह शिष्यो मे से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य हैं।[2] फिर शाक्त मार्ग, जो तत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। नाथ ने ही तत्रों की रचना की है क्योकि षोडश नित्यातत्र मे शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तत्र को ही नवनाथो ने लोक मे प्रचार किया है।[3] शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं —वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं :—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। अब, 'षट् शाम्भव रहस्य' नामक ग्रथ मे बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारो मे भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौल मार्ग ही अवधूत-मार्ग है। इस प्रकार तत्र ग्रथो के अनुसार भी कौल या अवधूत मार्ग श्रेष्ठ है, इसलिये

---

१ देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात् स्वय शिव
सरक्षन्तो विश्वमेव धीरा सिद्धमताश्रया ॥ —सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
शक्ति सगमतत्र बडौदा सीरीज (६१) के ताराखण्ड मे आदिनाथ और काली के सवाद से ग्रथ आरभ होता है। ये आदिनाथ स्वय शिव ही हैं।

२ कापालिको के बारह आचार्य ये हैं—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल कालभैरवनाथ, वटुकनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ। इनके बारह शिष्यो के नाम इस प्रकार है—नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैरागी, कथाधारी, जालधर और मलयार्जुन। स्पष्ट ही इस सूची मे के अनेक नाम नाथ-योगियो के हैं।

३ कादिसज्ञा भवेद्रूपा सा शक्ति सर्व सिद्धये।
तत्र यदुक्त भुवने नवनाथैरकल्पयन् ॥
तथा तैर्भुवने मन्त्र कल्पे कल्पे विजृम्भते।
अवसाने तु कल्पाना सा वै सार्द्ध व्रजेच्च माम् ॥

शाक्त तत्र भी नाथानुयायी ही हैं (गो० सि० स०, पृ० १६) यह लक्ष्य करने की बात है कि इस वक्तव्य मे शाक्त तत्र को ही नाथ मत का अनुयायी कहा गया है। शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं। सात्त्विक अधिकारियो को लक्ष्य करके उपदिष्ट आगम 'तत्र' कहे जाते हैं, राजस अधिकारियो के लिये उपदिष्ट शास्त्र 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारियो के लिये उपदिष्ट शास्त्र को 'डामर' कहा जाता है। फिर तान्त्रिको के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही अवधूत-मार्ग बताया गया है। 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' (पृ० २०) मे तान्त्रिक और अवधूत का अन्तर भी बताया गया है। कहा गया है कि तान्त्रिक लोग पहिले बहिरग उपासना करते हैं और अन्त मे क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते हैं जो हू-ब-हू अवधूत-मार्ग की ही उपासना है।

इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय के ग्रथो की अपनी गवाही से ही मालूम होता है, कि तान्त्रिको का कौल-मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कौलज्ञान निर्णय मे अनेक कौल मतो मे एक योगिनी कौल मत का उल्लेख है (सप्तदश पटल)। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का सबध इसी योगिनी कौल मार्ग से बताया गया है।[1] यह मार्ग कामरूप देश मे उद्भूत हुआ था। इस प्रकार नाथ पथियो का यह दावा ठीक ही जान पडता है कि कौलाचार उसके आचार्यों द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के अनेक सिद्धो के नाम वे ही हैं जो नाथ पथियों के हैं। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व पर अठारह हजार श्लोको की 'दत्तसहिता' लिखी थी। परशुराम नामक किसी आचार्य ने पचास खडो मे तथा छः हजार सूत्रो मे इसे सक्षिप्त किया था। बाद मे यह सक्षिप्त ग्रथ भी बडा समझा गया और हरितायन सुमेधा ने इसे 'परशुराम कल्पसूत्र' नाम से पुनर्वार सक्षिप्त किया। इस ग्रथ की दो टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं और दोनो ही गायकवाड संस्कृत सीरीज में (न० २२, २३) प्रकाशित हो गई हैं। प्रथम टीका उमानद नाथ की लिखी हुई 'नित्योत्सव' नामक है। इसे अशुद्ध समझ कर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। उमानन्दनाथ ने प्रथम मगलाचरण के श्लोक मे 'नाथ परम्परा' की स्तुति की है।[2] इस प्रकार त्रिपुरा मत के तान्त्रिको के आचार्य स्वय अपने को "नाथ मतानुयायी" कहते हैं। काश्मीर के कौल मार्ग मे मत्स्येंद्रनाथ को बडी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

अब थोडा-सा कापालिक मत के विषय मे भी विचार किया जाय। कापालिक मत इस समय जीवित है या नही, इस विषय मे सदेह ही प्रकट किया जाता है।[3]

---

१. बागची : कौलावलि निर्णय, भूमिका पृ० ३५
उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३८

२. नत्वा नाथ परपरा शिवमुखा विद्येश्वर श्री महा-
राज्ञीं तत्सचिवां तदीयपृतनानाथा तदन्त. पराम् —इत्यादि।

३. बगाल मे कपाली नाम की एक जाति है। पडित लोग इसे कापालिक परपरा का अवशेष मानते हैं। परन्तु स्वय यह जाति इस बात को नही स्वीकार करती। ये

यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' (पृ० ४८) मे इस मत का थोडा-सा परिचय मिलता है। भवभूति के 'मालती माधव' नामक प्रकरण मे कापालिको का जो वर्णन है वह बहुत ही भयकर है। वे लोग मनुष्य वलि किया करते थे। परन्तु इस नाटक से इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका मत षटचक्र और नाडिक-निचय के काया-योग से सबद्ध था।[1] यह काया-योग नाथपथियो की अपनी विशेषता है। महामहोपाध्याय प० हर प्रसाद शास्त्री ने 'वौद्ध गान ओ दोहा' नाम मे जो सग्रह प्रकाशित किया है उसका एक भाग 'चर्याचर्यविनिश्चय' है। यहाँ सुझाया गया है कि ग्रथ का वास्तविक नाम 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' होना चाहिए। इसमे चौरासी वौद्ध सिद्धो मे से चौवीस सिद्धो के रचित पद सग्रहीत हैं। एक सिद्ध हैं कान्हूपाद या कृष्णपाद। इनके रचित वारह पद उक्त सग्रह मे पाए जाते है और सबसे अधिक पद इन्ही के हैं। ये कान्हूपाद अपने को 'कापाली' या 'कापालिक' कहते हैं।[2] एक पद मे उन्होने अपने गुरु का नाम जालधरि दिया है।[3] हम आगे चल कर देखेंगे कि जालधरपाद नाथपथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। परवर्ती परपरा के अनुसार भी कान्हूपाद या कानपा जालधरनाथ के शिष्य वताए गए हैं। मानिकचन्द्र के 'मयनामतीरगान' मे इन्हे नाथपथी योगी जालधर का शिष्य बताया है। इन्ही जालधर का नाम हाडीपा या हल्लीकपाद भी है। जालधरनाथ ने कोई 'सिद्धान्त वाक्य' नामक सस्कृत पुस्तक भी लिखी थी। वह पुस्तक अव उपलब्ध नहीं है, पर एक श्लोक से पता चलता है कि जालधर नाथ-मार्ग के आनुयायी थे। इस श्लोक मे नाथ की वडी सुदर स्तुति है।[4] स्कदपुराण के काशीखण्ड मे नव नाथो

लोग अपने को वैश्य कपाली कहने लगे हैं। इनके समस्त आचार आधुनिक हिंदुओ के हैं। इनके पुरोहित ब्राह्मण हैं परन्तु अन्य ब्राह्मण इन्हे हीन समझते हैं। सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार इनकी सख्या १४,७०० थी।

१ नित्यन्यस्तषडगचक्रनिहित हृत्पद्ममध्योदित
पश्यन्ती शिवरूपिण लयवशादात्मानमभ्यागता।
नाडीनामुदयक्रमेण जगत पचामृताकर्षणाद्
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोऽभोमुच.॥—मालती माधव ५-२

२ (१) आलो डोम्बि तोए सग करिब मो साग।
निर्घिन कान्ह कापालि जोइ लाग॥ चर्या०, पद १०

(२) कइसन होलो डोम्बि तोहरि भाभरि आली।
अन्ते कुलीन जन माझे कावाली।

(३) तुलो डोम्बी हाउँ कपाली—वही, पद १०

३ शाखि करिब जालधरि पाए।
पाखि ण राहअ मोरि पाडिआ चादे॥—वही, पद ३६

४ जालधर के 'सिद्धान्त वाक्य' मे यह श्लोक है :

के विन्यास के सिलसिले मे जालधर नाथ का नाम पाया जाता है।[1] 'गोरक्षसिद्धात सग्रह' (पृ० २०) पर कापालिक मत के प्रकट करने का मनोरजक कारण बताया गया है। जब विष्णु ने चौबीस अवतार धारण किए और मत्स्य, कूर्म, नृसिह आदि के रूप मे तिर्यग् योनि के जीवो की सी क्रीडा करने लगे, कृष्ण के रूप मे व्यभिचारि भाव ग्रहण किया, परशुराम के रूप मे निरपराध क्षत्रियो का निपात आरम्भ किया, तो इन अनर्थों से कुपित होकर श्रीनाथ ने चौबीस कापालिको को भेजा। इन्होंने चौबीसो अवतारो से युद्ध करके उनका सिर या कपाल काटकर धारण किया! इसीलिये ये लोग कापालिक कहलाए।

इस समय जयपुर के पावनाथ शाखा वाले अपनी परम्परा जालधरनाथ और गोपीचन्द से मिलाते हैं। अनुश्रुति के अनुसार बाहर पथो मे से छ. स्वय शिव के प्रवर्तित हैं और बाकी छ. गोरखनाथ के। यह परम्परा लक्ष्य करने की है कि जाल-धरिपा नामक जो सप्रदाय इस समय जीवित है वह जालधरपाद का चलाया हुआ है। पहले इसे 'पा पथ' कहते थे और नाथ-मार्ग से ये लोग स्वतत्र और भिन्न थे। जालधर या जालधरनाथ को मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ से अलग करने के लिये कहा गया है। जालधरनाथ औघड थे जब कि मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा।[1] कान चीर कर मुद्रा धारण करने पर योगी लोग कनफटा कहलाते हैं परन्तु उसके पूर्व औघड कहे जाते हैं। परन्तु 'सिद्धान्त वाक्य' से जालधरपाद का जो श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उससे पता चलता है कि मुद्रा नाद और त्रिशूल धारण करने वाले नाथ ही इनके उपास्य है। आजकल जालधरिपा सप्रदाय के लोग गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पावनाथी शाखा के ही हैं। परन्त कानिपा सम्प्रदाय वाले, जिन्हें कोई-कोई जालन्ध-रिपा से अभिन्न भी मानते हैं और जो लोग अपने को गोपीचन्द का अनुवर्ती मानते हैं, बारहपथियो से अलग समझे जाते हैं।[2] सपेला या सँपेरे इसी सप्रदाय के माने जाते हैं। एक अन्य परपरा के अनुसार बामारग (वाममार्ग) सप्रदाय कानिपा पथ से ही सबद्ध है।[3] इन बातो से यह अनुमान होता है कि कापालिक मार्ग का स्वतत्र अस्तित्व था जो बाद मे गोरखपथी साधुओ मे अन्तर्भुक्त हो गया है। गोरखपथियो से कुछ बातो मे ये लोग अब भी भिन्न हैं। गोरखपथी लोग कान के मध्यभाग मे ही कुण्डल धारण करते हैं पर कानिपा लोग कान की लोरो मे भी उसे पहनते हैं। यह मुद्रा गोरखनाथी

वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरह भानुतेजस्कर वा
सत्कर्तृ व्यापक त्वा पवनगतिकर व्योमवन्निर्भर वा
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधर खर्पर भस्मभिश्र
द्वैत वाऽद्वैतरूप द्वयत उत पर योगिन शकर वा —स०, भ०, सु०, पृ० २८

१ जालधरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।

२ ब्रिग्स · गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज, पृ० ६७।

३. वही, पृ० ६८।

योगियो का चिह्न है। गोरक्षपंथ मे इसके अनेक आध्यात्मिक अर्थ भी बताये जाते हैं। कहते हैं यह शब्द मुद् (प्रसन्न होना) और रा (आदान, ग्रहण) इन धातुओं से बना है। ये दोनो जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं। चूंकि इसमें देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर लोग भाग खड़े होते हैं इसलिये इसे साक्षात्कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है।[1] मुद्रा धारण के लिये कान का फाड़ना आवश्यक है और यह कार्य छुरी या क्षुरिका से ही होता है। इसीलिये 'क्षुरिकोपनिषद्' के छुरी का माहात्म्य वर्णित है।[2] तात्पर्य यह कि जो साधु कान फाडकर मुद्रा धारण नही करते उनका गोरक्षनाथ के मार्ग से सबध सदेहास्पद ही है। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि जालधर (वा जलधर) पाद और कृष्ण-पाद (कानिपा, कानुपा, कान्हूपा) द्वारा प्रवर्तित मत्त नाथ सप्रदाय के अन्तर्गत तो था परन्तु मत्स्येंद्रनाथ-गोरखनाथ परम्परा से भिन्न था। बाद मे चलकर वह गोरखनाथी शाखा मे अन्तर्भुक्त हुआ होगा।

जो हो, जालधरपाद और कृष्णपाद कर्णकुण्डल धारण करते थे, या नही यह निश्चय करना आज के वर्तमान उपलभ्य सामग्रियो के आधार पर बहुत कठिन है। परन्तु 'चर्यापद' मे शबरपाद का एक पद हमे ऐसा मिला है[3] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम शबरपाद या तो स्वय कर्णकुण्डल धारण करते थे या फिर उनके सामने ऐसे योगी जरूर थे जो कर्णकुण्डल धारण करते थे। पहली बात ज्यादा मान्य जान पडती है। इन शबरपाद को कृष्णपाद (कानपा) ने बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ याद किया है और एक दोहे मे परम पद—महासुख के आवास—के प्रसग मे बताया है कि यही वह जालधर नामक महामेरु गिरि के शिखर का उष्णीष कमल है—जो साधको का चरम प्राप्तव्य है—जहाँ स्वय शबरपाद ने वास

---

१. मुद् मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनो।
उभयोरैक्यसभूतिर्मुद्रेति परिकीर्तिता॥
मोदन्ते देवसघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशय.।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदाभद्रार्थदायिनी।—सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

२ क्षुरिका सप्रवक्ष्यामि धारण योगसिद्धये।
सप्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्त प्रजायते।

३ एकेली सबरी ए बन हिण्डइ
कर्ण कुण्डल वज्रधारी—चर्या० पद २८।

इस पर टीका—कर्णेति नानास्थाने कुण्डलादि पञ्चमुद्रा निरशुकालकार कृत्वा वज्रनुपायज्ञान विधृत्य युगवनद्धरूपेण अत्र कायपर्वत वने हिण्डति क्रीडति।
—बौ० गा० दो०, पृ० ४४।

किया था ।[1] यदि यह अनुमान सत्य हो कि शवरपाद किसी प्रकार कर्णकुण्डल धारण करते थे तो यह अनुमान भी असगत नही है कि उनके प्रति नितरा श्रद्धाशील कानपा भी कर्णकुण्डल धारण करते होगे । अद्वयवज्र ने इस पद के इस शब्द की भी रूपक के रूप मे व्याख्या की है ।

यद्यपि यही विश्वास किया जाता है कि मत्स्येद्रनाथ ने या गोरक्षनाथ ने ही कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा चलाई थी तथापि कर्णकुण्डल कोई नई बात नही है । इस प्रकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि कर्णकुण्डधारी शिवमूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल मे भी बनती थी । एलोरा गुफा के कैलाश नामक शिवमन्दिर मे शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्ति पाई गई है । इस मूर्ति के कान मे बडे-बडे कुण्डल हैं । यह मदिर और मूर्ति सन् ईसवी की आठवी शताब्दी की हैं । परन्तु ये कर्णकुण्डल कनफटा योगियो की भाँति नही पहने गये हैं । ब्रिग्स ने बम्बई की लिटरेरी सोसायटी के अनुवादो से उद्धृत करके लिखा है कि सालसेटी, एलोरा और एलीफेंटा की गुफाओ मे, जो आठवी शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ हैं जिनके कान मे वैसे ही बडे-बडे कुण्डल हैं जैसे कनफटा योगियो के होते हैं और उनको कान मे उसी ढग से पहनाया भी गया है । इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आरकट जिले मे परशुरामेश्वर का जो मदिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानो मे कनफटा योगियो के समान कुण्डल हैं । इस मदिर का पुना सस्कार सन् ११२६ ई० मे हुआ था इसलिए मूर्ति निश्चय ही उसके बहुत पूर्व की होगी । टी० ए० गोपीनाथ राव ने 'इडियन एटिक्वैरी' के चालीसवे जिल्द (१९११ ई०) मे इस लिंग का वर्णन दिया है । इनके मत से यह लिंग सन् ईसवी की दूसरी या शताब्दी के पहले का नही होना चाहिए । इन सब बातो को देखते हुए यह अनुमान करना असगत नहीं कि मत्स्येद्रनाथ के पहले भी कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ होती थी । इससे परपरा का भी कोई विरोध नहीं होता क्योकि कहा जाता कि शिवजी ने ही अपना वेश ज्यो का त्यो मत्स्येंद्रनाथ को दिया था । एक अनुश्रुति के अनुसार तो शिव का वह वेश पाने के लिये मत्स्येंद्रनाथ का दीर्घकाल तक कठोर तपस्या करनी पडी थी ।

३. गोरखनाथी शाखा

नाथपथियो का मुख्य सप्रदाय गोरखनाथी योगियो का है । इन्हें साधारणत· कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है । कटफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग

---

१ वरगिरि शिहर उतुग मुनि
शवरे जहि किअ वास ।
णउ सो लघिअ पञ्चाननेहि
करिवर दुरिअ आस ॥२५॥ 	—बौ० गा० दो०, पृ० १३० ।

कान फाडकर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते है। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओ और हाथी दाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष मे पाए जाते हैं। पजाब, हिमालय के पाद देश, बगाल और बम्बई मे ये लोग 'नाथ' कहे जाते हैं। ये लोग जो मुद्रा धारण करते हैं वे दो प्रकार की होती हैं—कुण्डल और दर्शन। 'दर्शन' का सम्मान अधिक है क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसे धारण करने वाले ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके होते हैं। कुण्डल को 'पवित्री' भी कहते हैं।

इन योगियो की ठीक-ठीक सख्या कितनी है यह मर्दमशुमारी की रिपोर्टों से भली-भाँति नही जाना जाता। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी मूल्यवान पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज़' मे भिन्न-भिन्न वर्षों की मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से इनकी सख्या का हिसाब बताया है। सन् १८८१ की मनुष्य गणना मे सारे भारतवर्ष मे योगियो की सख्या २१४५४६ बताई गई थी। इसी वर्ष आगरा और अवध के प्रांतो मे औघड '२१८, गोरखनाथी २८८१६ और योगी (जिनमे गोरखनाथी भी शामिल हैं) ७८३८७ थे। इनमे औघडो को लेकर समस्त गोरखनाथियो का अनुपात ४५ फी सदी है। उसी रिपोर्ट के अनुसार योगियो मे पुरुषो और स्त्रियो का अनुपात ४२ और ३५ का था। ये सख्याएँ विशेष रूप से मनोरजक हैं क्योंकि साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते है। वस्तुत. इनमे गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत हैं। यह समझना भूल है कि केवल हिन्दुओ मे ही योगी हैं। उस साल की पजाब की रिपोर्ट से पता चलता है कि ३८१३७ योगी मुसलमान थे। सन् १९२१ की मनुष्य-गणना मे इसकी सख्या इस प्रकार है :—

जोगी हिंदू	६२९९७८	पुरुष/स्त्री	३२५/३०५
जोगी मुसलमान	३११५८	पुरुष/स्त्री	१६/ १५
फकीर हिंदू	१४११३२	पुरुष/स्त्री	८०/ ६१

मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों मे इन लोगो का अलग से कोई उल्लेख नही है।[1] इतना निश्चित है कि जोगियो मे कनफटा साधुओ की सख्या बहुत अधिक है।

गोरखनाथी लोग मुख्यत· बारह शाखाओ मे विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वय गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथपथियो का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओ मे विभक्त कर दिया था। वे बारह पथ ये हैं—सत्यानाथी, धर्मनाथी, रामपथ, नटे-

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिए गोरख नाथ एण्ड दि कनफटा योगीज पृ० ४-६।

श्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैराग, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धजपंथ और गंगा-नाथी। इन बारह पंथों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें 'बारहपंथी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पंथ का एक-एक विशेष 'स्थान' है जिसे ये लोग अपना पुण्य-क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पंथ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक मानता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध सिद्ध महंत बाबा गंभीरनाथ के एक बंगाली शिष्य ने, संभवतः गोरखपुर की परंपरा के आधार पर, इन बारह पंथों का विवरण पृष्ठ १३ के अनुसार दिया है[1]—

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाए थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ते थे इसलिये बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छः तथा शिवजी के छः पंथों को तोड़ दिया और आजकल की बारह-पंथी शाखा की स्थापना की। यह अनुश्रुति पागल बाबा नाम के एक औघड़ साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और परम्परा के अनुसार लिखा है कि शिव के अठारह पंथ थे और गोरखनाथ के बारह। पहले मत के बारह को और दूसरे के छः पंथों को तोड़ कर आधुनिक बारह पंथी शाखा बनी थी। इन दोनों अनुश्रुतियों में पहली अधिक प्रामाणिक होगी। क्योंकि सांप्रदायिक ग्रंथों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताए गए हैं—मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ। मत्स्येंद्र के शिष्य गोरखनाथ थे। जालंधरनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय कापालिक मार्ग होगा, इसका विचार हम पहले ही कर आए हैं। इन कापालिकों के बारह ही आचार्य प्रसिद्ध हैं। (आचार्य और शिष्यों के नाम के लिये दे० पृ० ४ की टिप्पणी)। पुनर्गठित बारह संप्रदाय इस प्रकार हैं[3]—

शिव द्वारा प्रवर्तित

१ भुज (कच्छ) के कंठरनाथ।
२ पेशावर और रोहतक के पागलनाथ।
३ अफ़ग़ानिस्तान के रावल।
४ पंख या पंक।

---

१ गंभीरनाथ प्रसंग, पृ० ५०-५१।
२ ब्रिग्स पृ० ६३।
३ ब्रिग्स पृ० ६३ के आधार पर। इन संप्रदायों की यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझी जानी चाहिए।

स०	नाम	मूलप्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उडीसा	सत्यनाथ स्वय ब्रह्मा का ही नाम है। इसीलिये ये लोग 'ब्रह्मा के योगी' कहलाते हैं।
२	धर्मनाथी	धर्मराज (युधिष्ठिर)	दुल्लुदेलक	नेपाल	
३	रामपथ	श्रीरामचद्र	चौक तप्पे पचौरा	गोरखपुर (युक्तप्रान्त)	इस समय ये लोग गोरखपुर के स्थान को ही अपना स्थान मानते हैं।
४	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटिला	झेलम (पजाब)	इनकी दो शाखाएँ हैं—नाटेश्वरी और दरियापथी।
५	कन्हड	गणेश	मानफरा	कच्छ	....
६	कपिलानी	कपिलमुनि	गगा सागर	बगाल	इस समय कलकत्ते (दमदम) के पास 'गोरखवशी' इनका स्थान हैं
७	वैरागपथ	भर्तृहरि	रतढोडा	पुष्कर के पास अजमेर	
८	माननाथी	गोपीचद	अज्ञात	—	इस समय जोधपुर का महामदिर मठ ही इनका स्थान है।
९	आई पथ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरख कुंई	बगाल के दिनाजपुर जिले में	
१०	पागलपथ	चौरगीनाथ (पूरनभगत)	अबोहर	पजाब	
११	ध्वजपथ	हनुमानजी	—	—	
१२	गगानाथी	भीष्म पितामह	जखवार	गुरुदासपुर (पजाब)	

इन शाखाओं की बहुत-सी उपशाखाएँ हैं। कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपशाखाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि इन बारह पंथों के बाहर भी ऐसे अनेक संप्रदाय हैं जिनका स्पष्ट संबंध इन छ मार्गों से नहीं खोजा जा सका है। हो सकता है कि वे गोरखनाथ द्वारा तोड़ दिए हुए कुछ पंथों के अनुयायी ही हों। वे लोग सिद्ध या गोरखनाथ से अपना सम्बन्ध किसी न किसी तरह जोड़ ही लेते हैं।

ऊपर जिन बारह मुख्य पंथों के नाम गिनाए गए हैं वे ही पुराने विभाग हैं। पर आजकल बारह पंथों में निम्नलिखित पंथ ही माने जाते हैं—(१) सतनाथ, (२) रामनाथ, (३) धर्मनाथ, (४) लक्ष्मणनाथ, (५) दरियानाथ, (६) गंगानाथ, (७) बैराग, (८) रावल या नागनाथ, (९) जालंधरिपा, (१०) आईपंथ, (११) कपिलानी और (१२) धजनाथ। गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा के अनुसार चौथी संख्या नाटेसुरी और पाँचवीं कन्हड़ है। आठवीं संख्या मानानाथी, नवीं आईपंथ और दसवीं पागलपंथ है। ऊपर के संबंधों का विवेचन करने पर दोनों अनुश्रुतियों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। केवल एक के अनुसार जो उपशाखा है वह दूसरी के अनुसार पंथ है। तेरहवाँ महत्त्वपूर्ण पंथ कानिपा का है जिसके विषय में ऊपर (पृ० ७) थोड़ी चर्चा हो चुकी है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पंथ हैं जिनका किसी बड़ी शाखा से सम्बन्ध नहीं खोजा जा सका। हाँड़ी भारंग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। वे लोग बम्बई में रसोइए का काम करते पाए जाते हैं। गोरखनाथ के एक शिष्य सवकरनाथ थे जिन्हें उनके रसोइए ने स्वाद जानने के लिये पहले ही चखकर बनाई हुई दाल दी थी। इसी अपराध के कारण चार वर्ष तक उसे गले में हाँड़ी बाँधकर भीख माँगने का दण्ड दिया गया।

स्थान पूने मे है। इसके अतिरिक्त कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, आरयपथी, फीलनाथी, चर्पटनाथी,[१] गैनी या गाहिणीनाथी,[२] निरजननाथ,[३] वरजोगी, पा-पथ, कामभज, कापाय, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुभीदास, तारकनाथ,[४] अमापथी, भृगनाथ[५] आदि अनेक उपशाखाएँ हैं जिनका विस्तार समूचे भारतवर्ष और सुदूर अफगानिस्तान तक है।[६]

एक दूसरी परम्परा के अनुमार मत्स्येंद्रनाथ ने चार सम्प्रदाय चलाए थे—गोरखनाथी, मगल या अरजनगा (गवन) मीननाथ मिवतोर, पारसनाथ पूजा अन्तिम दोनो जैन हैं।

गोरक्ष[७] के निम्नलिखित शिष्यो ने पथ चलाए—

---

१ वर्ण रत्नाकर के इकतीसवें सिद्ध, हठ० के १६ वे सिद्ध तथा तिब्बती परपरा के ५९ वे सिद्ध का नाम चर्पटी या चर्पटीनाथ है।

२ नामदेव परम्परा के गैनीनाथ और बहिनीबाई की परम्परा के गाहिनी नामक सिद्धो का उल्लेख है।

३. हठ० के बीसवे सिद्ध।

४ तारकनाथ विलेशय के शिष्य थे—यो० स० आ०, पृ० २४६।

५ नेपाल राज के कमडलु मे भृ ग रूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येंद्रनाथ का एक नाम भृ गनाथ था। कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, श्लोक १७ मे मत्स्येद्रनाथ का भृ गपाद कहा गया है।

६ ब्रिग्स · पृ० ७३-७४।

७ योगि सप्रदाया विष्कृति के अनुसार मत्स्येद्रनाथ और जालन्धरनाथ (ज्वालेद्रनाथ) की शिष्य परम्परा इस प्रकार है—
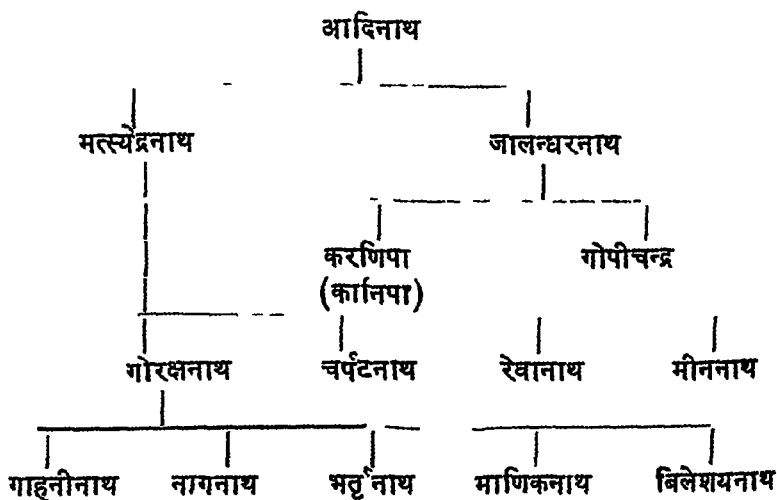
फलाहार करते हैं।[1] कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है।[2] यह कर्णकुण्डल निस्सदेह योगी लोगो का बहुत पुराना चिह्न है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नही धारण करते। ये लोग औघड कहे जाते हैं। औघड लोगो का जब कर्णमुद्रा-सस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औघड हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज मे दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे पर हरबार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड लोग चिरवाते ही नही।[3] सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीडा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नही कर सकेंगे।[4]

पद्मावत मे मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियो के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियो का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रतनसेन राजा ने हाथ मे किंगरी, सिर पर जटा, शरीर मे भस्म, मेखला, शृ गी, योग को शुद्ध करने वाला धँधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार (आसन का पीढा) धारण किया था। कथा पहन कर हाथ मे सोटा लिया था और 'गोरख-गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पडा था, उसने कान मे मुद्रा, कठ मे रुद्राक्ष की माला, हाथ मे कमण्डल, कधे पर बघम्बर (आसन के लिये), पैरो मे पाँवरी, सिर पर छाता और बगल मे खप्पर धारण किया था। इन सबको उसने गेरुए रग मे रगकर लाल कर लिया था।[5] कबीरदास के अनेक पदो से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कथा, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यत्र अर्थात् सारगी यत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारगी को गोपीयत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे। (क० ग्र० २०५, २०६, २०७, २०८) और अजपा जाप करते थे (२०९)[6] इसी प्रकार सूरदास भ्रमरगीत मे गोपियो ने जिन योगियो की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है।

---

१ सु० च०, पृ० २४१।

२. ब्रिग्स : पृ० ८-९।

३. ट्रा० का० से० प्रो० श्य भाग पृ० ३९८, ब्रिग्स ने लिखा है कि औघड लोगो को योगियो से आधी ही दक्षिणा मिलती है। कहीं-कही समान भी मिलती है।

४. यो० स० आ०।

५. पद्मावत, जोगी खड, १२, १२८।

६. वगाल के पुराने नाथपथी अपने को योगी या कापालिक कहते थे। वे कान मे मनुष्य की हड्डियो का कुण्डल और गले मे हड्डियो की ही माला धारण करते थे। पैरो मे ये लोग नूपुर और हाथ मे नर कपाल लेते थे और शरीर मे भस्म

काओ के हेर-फेर से चक्र बना कर उसके बीच मे छेद करते हैं। इस छेद मे कौडी या या मालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मत्र पढकर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र मे से सहसा किसी से डोरा या कौडी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओ मे से इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकलना कठिन पड जाता है। जो निकालने की क्रिया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धांधरी' या गोरखधधा है। गोरखपथियो का विश्वास है कि मत्र पढ-पढ कर गोरख-धधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और ससार-चक्र मे उलझे हुए प्राणियो को डोरे की भाति इस भवजाल से मुक्त कर देते हैं।[1]

रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उसमे ३२, ६४, ८४ या १०८ मनके होते हैं। छोटी मालायें जिन्हे 'सुमिरनी' कहते हैं १८ या २८ मनको की होती है और कलाई मे बंधी रहती है। रुद्राक्ष शब्द का अर्थ रुद्र या शिव की आंख है। तत्रशास्त्र के मत से यह माला जप कार्य मे विशेष फल-दायनी होती है। इस रुद्राक्ष मे जो खरबूजे के फांक जैसी जो रेखाएं होती हैं उसे 'मुख' कहते हैं। जप मे प्राय. पचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है एकमुखी मुद्राक्ष बडा शुभ माना जाना है। घर मे उसके रहने से लक्ष्मी अविचल होकर वसती हैं। जिसके गले मे एकमुखी रुद्राक्ष हो उस पर शस्त्र की शक्ति नही काम करती—ऐसा विश्वास है। एकमुखी रुद्राक्ष असल मे एकमुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिए प्राय. भेडे के गले मे बाध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेडे की गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एक मुखी रुद्राक्ष समझा जाता है।[2] ग्यारह मुख वाला रुद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणत दोमुख वाले रुद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते है।

'अधारी' (=आधार) काठ के डडे मे लगा हुआ काठ का पीढा (आसा) है जिसे योगी लोग प्राय लिये फिरते हैं और जहां कही रख कर उस पर बैठ जाते हैं। बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असभव है।[3] कथा गेरुए रग की सुजनी का चोलना है जो गले मे डाल लेने से अग को ढांक लेता है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुराने चिथडो को बटोर कर सी ली जानी चाहिए। गेरुआ या लाल रग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तभ की शक्ति बढती है। क्रुक्स ने एकदन्त कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले-पहल अपने रक्त से रग कर एक चालना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरुआ) रग योगी लोगो का रग हो गया है। 'सोटा' झाड फूंक करने का डडा है जो हाथ डेढ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और

---

१. सु० च० पृ० २३९।
२. वही : पृ० २४०।
३ सु० च० : पृ० २४०।

बहुत से गोरखनाथ का डडा या सोटा कहते हैं।[1] योगी लोग शरीर मे भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड्र लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नही है। बहुत योगी तो आरबद (मेखला) से बँधी हुई लँगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे भी मिलते है जो लँगोटी भी नही धारण करते।[2] 'खप्पर' मिट्टी के घडे के फोडे हुये अर्द्ध भाग को कहते हैं। आज कल यह दर्यायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी काँसे का भी खप्पर रखते हैं इसलिए खप्पर को 'काँसा' भी कहते हैं। खप्पर का एक मनोरजक अवशेष 'जोगीडे' नामक अश्लील गानो के गाते समय लिया हुआ चौडे मुँह का वह घडा है जिसमे गुरु लोग आँख रखकर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।[3]

योगि सप्रदाया विष्कृति' नामक ग्रथ मे[4] इन चिह्नो के धारण करने की विधि और कारण के बारे मे यह मनोरजक कहानी दी हुई है। जब मत्स्येंद्रनाथजी से प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि तुम वर माँगो तो उन्होने शिवजी का स्वरूप ही वरदान मे माँगा। शिवजी ने पहले तो इतस्तत किया पर मत्स्येद्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर अन्त मे अपना वेश दान करने को राजी हो गए। फिर प्रथम तो सिर मे विभूति डालकर भस्म-स्नान कराया और उसका यह तात्पर्य बताया कि यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है, इसके शरीर मे धारण का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को मानापमान के अतीत जडधरित्री के समान समझे या अग्नि संयोग से भस्म रूप मे परिणत हुए काठ की तरह ज्ञानाग्नि दग्ध होकर अपनी कठोरता आदि को छोड दे और ज्ञानाग्नि के सयोग से अपने कृत्यों को भस्मसात् कर दे। फिर जलस्नान कराया और उसके दो अभिप्राय बताए। एक तो यह कि मेघ जिस प्रकार जल को समान भाव से भूतभाव के लिए वितरण करता है। इसी प्रकार तुम समस्त प्राणियो के साथ समान व्यवहार करना और दूसरा यह कि पानी जिस प्रकार तप्त होने पर भी अपना स्वभाव नही छोडता उसी प्रकार तुम भी अपना स्वभाव न छोडना। इसके अनन्तर श्री महादेवजी ने उन्हे 'नाद-जनेउ' पहनाया और उसका यह अभिप्राय समझाया—काष्ठादि का बनाया हुआ यह नाद है। नाद अर्थात् शब्द। इसके धारण करने का मतलब यह हुआ कि अब से शिष्य अपनी उत्पत्ति 'नाद' से समझे। (शब्द गुरु और श्रोता चेला —ऐसा योगियों का सिद्धान्त है) और यह ऊर्णादि निर्मित 'जनेउ' जिस प्रकार ससार के अन्य 'जनेउओं' से भिन्न है उसी प्रकार तुम अपने को ससार से भिन्न समझना। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के धारण करने का ठीक-ठीक कारण समझाने के बाद महादेव जी के कुण्डलादि अपने अनेक चिह्न मस्त्येद्रनाथजी को दिये। तभी से सप्रदाय मे यह

१ सु० च० पृ० २४०।
२ ब्रिग्स : पृ० १६-२०।
३ सु० च० पृ० २४१।
४ यो० स० आ०, पृ० २०-२१।

प्रथा प्रचलित हुई। इनना निखने के बाद ग्रथकार ने बडे खेद के साथ लिखा है कि आजकल सप्रदाय मे इन अभिप्रायो को कोई नही जानता। इस ज्ञान के अभाव का कारण उन्होने यह बताया है कि धनाढ्य महन्त लोग शिमला, मसूरी, नैनीताल और उनके पीछे उनके स्थानो पर उन्ही के नाम पर शिष्य बनाए जाते हैं। अब भला जिस शिष्य ने वेश ग्रहण करने के समय जिस व्यक्ति के शब्द को गुरु समझा है उसका मुह-मत्था भी नहीं देखा वह उन चिह्नो का क्या अभिप्राय समझ सकता है।

इब्नबतूता नामक मिस्री, पर्यटक जब भारत आया था तो उसने इन योगियो को देखा था। उसने लिखा है कि उन (योगियो) के केश पैर तक लम्बे होते हैं, सारे शरीर मे भभूत लगी रहती है और तपस्या के कारण उनका वर्ण पीत हो गया होता है। चमत्कार प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक बहुत से मुसलमान भी इनके पीछे लगे फिरते हैं, मावश उन्नहर के सम्राट 'तरम शीरी' के कैंप मे बतूता ने इनको सर्वप्रथम देखा था। गिनती मे ये पूरे पचास थे। इनके रहने के लिये धरती मे गुफाएँ बनी हुई थी और वही ये अपना जीवन व्यतीत करते थे, केवल शौच के लिए बाहर आते थे और प्रात साय तथा रात्रि मे शृङ्ग के सादृश्य किसी वस्तु को बजाया करते थे।[1] इब्नबतूता ने इन योगियो की अद्भुत करामातो को स्वय देखा था। बतूता की गवाही पर यह मान लिया जा सकता है कि दीर्घकाल से साधारण जनता इन योगियो को भय की दृष्टि से देखती रही है। उन दिनो ग्वालियर के पास किसी बरोन नामक ग्राम मे एक बाघ का बडा उपद्रव था। लोगो ने बतूत को बताया कि वह कोई योगी है जो बाघ का रूप धर के लोगों को खा जाता है।[2]

कबीरदास के जमाने मे ही योगियो का सैनिक सगठन हो चुका था। उन्होने इन योगियो की इस विचित्र लीला का बडा मनोहर वर्णन दिया है।[3] सोलहवी शताब्दी मे इन योगियो से सिक्खो की घनघोर लडाई हुई थी। दिनोधर के मठ की दीवारो मे शस्त्र फेकने के लिए छिद्र बने हुए हैं जो निश्चय ही आत्मरक्षा के उद्देश्य से बने होंगे।

---

१ इ० भा० या० : पृ० २८२-३।

२ वही, पृ० २८८।

३ ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गाफिलाई॥
महादेव को पथ चलावै। ऐसो बडो महत कहावै॥
हाट बजारैं लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी॥
कब दत्ते मावासी गोरी। कब सुख देव तोपची जोरी॥
नारद कब बदूक चलाया। व्यासदेव कब बब बजाया॥
करइँ लराई मति कै मदा। ई अतीत की तरकस बदा॥
भए विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना॥
घोरा घोरी कीम बटोरा। गाँव पाय जस चलैं करोरा॥
—बीजक ६८वी रमैनी

कच्छ के योगी सोलहवी शताब्दी मे भयकर हो उठे थे वे अतीयो को जबरदस्ती कनफटा बनाते थे। बाद मे अतीयो ने सगठित होकर लोहा लिया था। इन अतीयो का प्रधान स्थान जूनागढ था। इस लडाई मे योगियो की शक्ति टूट गई थी।[१]

५. गृहस्थ योगी

नाथमत को मानने वाली बहुत-सी जातियाँ घर बारी हो गई हैं। भारतवर्ष के हर हिस्से मे ऐसी जातियो का अस्तित्व पाया जाता है। शिमला पहाडियो के नाथ अपने को गोरखनाथ और भरथरी का अनुयायी मानते हैं। ये लोग गृहस्थ होकर एक जाति ही बन गए हैं। यद्यपि ये भी कान चीर कर कुण्डल ग्रहण करते हैं पर इनकी मर्यादा कनफटे योगियो से हीन मानी जाती है। ये लोग उत्तरी भारत के महाब्राह्मणो के समान श्राद्ध के समय दान पाते हैं।[२] ऊपरी हिमालय के नाथो मे भी कान चिरवा कर कुण्डल धारण करने की प्रथा है परन्तु घर मे कोई एक या दो आदमी ही ऐसा करते हैं। ऐसा करने वाले 'कनफटा नाथ' कहलाते हैं। ये भी गृहस्थ हैं। और इनकी मर्यादा भी बहुत ऊँची नही है। डेमी जैसी नीच समझी जाने वाली जाति के लोग भी इनका अन्न जल नही ग्रहण करते।[३] अलमोडे मे मतनाथी और धर्मनाथी सम्प्रदाय के गृहस्थ योगी हैं। इनके परिवार का कोई एक लडका कान मे कुण्डल धारण कर लेता है।[४] योगियो मे विवाह की प्रथा भी पाई जाती है। कही-कही ब्राह्मण विवाह का सस्कार कराते हैं और कही-कही नाथ-ब्राह्मण नामक जाति। पजाब मे गृहस्थ योगियो को रावल कहा जाता है। ये लोग भीख-माँगकर, करामात दिखाकर, हाथ देखकर अपनी जीविका चलाते हैं। पजाब के सयोगी अब एक जाति ही बन गए हैं। अम्बाला के सयोगियो के बारह पथ भी हैं पर ये सब गृहस्थ हैं। गढवाल के नाथ भैरव के उपासक हैं। नादी-सेली पहनते हैं और सन्तान भी उत्पन्न करते हैं। अब यह भी एक अलग जाति बन गये हैं।[५]

साधारणत वयनजीवी जातियाँ जैसे ताती जुलाहे, गडेरिए, दरजी आदि नाथ मत के मानने वाले गृहस्थो मे पडती हैं। सूत का रोजगार योगी जाति का पुराना व्यवसाय है। बहुत-सी गृहस्थ योगियो की जातियाँ मुसलमान हो गई हैं और अपने को अब भी गिरस्त या गृहस्थ कहती हैं। अलईपुरा के जुलाहे ऐसे ही हैं।[६] हमने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक मे दिखाया है कि कबीरदास ऐसी ही किसी गिरस्त योगी

---

१. ग्लो० प० ट्रा० का०, पृ० १६५।

२ वही · पृ० १६५।

३ वही : पृ० १३५।

४ ब्रिग्स : पृ० ४७।

५ गढ़वाल का इतिहास : पृ० २०१।

६ श्री राय कृष्णदास जी के एक पत्र के आधार पर।

जाति के मुसलमानी रूप मे पैदा हुए थे। बुदेलखड के गडेरिए नाथ योगियो के अनुयायी हैं। उनके पुरोहित भी 'योगी' ब्राह्मण होते हैं जो उनके विवाहादि सस्कार कराते है। विवाह के मत्रो मे गोरखनाथ और मछन्दरनाथ के नाम भी आते हैं।[1] शेख फैजुल्लाह नामक वगाली कवि की एक पुस्तक 'गोरक्ष-विजय' है। इसके सपादक श्री अब्दुल करीम साहव का दावा है कि पुस्तक पाँच छ सौ वर्ष पुरानी होगी। इस पुस्तक मे कदली देश की जोगिन (अर्थात् योगी जाति की स्त्री) से गोरखनाथ को भुलावा देने के प्रसग मे इस प्रकार कहवाया गया है—"तुम जोगी हो, जोगी के घर जाओगे इसमे भला सोचना विचारना क्या है। हमारा तुम्हारा गोत्र एक है। तुम वलिष्ठ योगी हो मैं जवान जोगिन हूँ, फिर क्यो न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यो हम किसी की परवा कर मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट मे वेचने ले जाओगे और इस प्रकार दिन दिन सम्पत्ति वढती जायगी जो तुम्हारी झोली और कथा मे अँटाए नही अँटेगी।[2] इससे सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल से वयनजीवी जातियाँ योगी हैं। आधुनिक योगी भी सून के द्वारा अनेक टोटका करते हैं और गोरखधधे से सूत की ही करामात दिखाते हैं।

वगाल मे जुगी या योगी वयनजीवी जाति है। सन् १९२१ मे अकेले वगाल मे इनकी सख्या ३६५९१० थी। आजकल ये लोग अपने को योगी ब्राह्मण कहते हैं।[3] टिपरा जिले के कृष्णचन्द्र दलाल ने इन्हे वदस्तूर ब्राह्मण वनाने और जनेऊ धारण करने का आन्दोलन किया था।[4] इस प्रकार वयनजीवियो मे इस मत का बहुत कुछ प्रचार था। यह तो नही जाना जा सका कि सभी वयनजीवियो मे[5] योग परपरा के चिह्न हैं परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वयनजीवी जातियो मे अपनी वर्तमान स्थिति के बारे मे असन्तोष है और वे सभी किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से सम्वद्ध अवश्य थी।

---

१ लोक वार्ता, वर्ष १, अक २ मे श्री रामस्वरूप योगी का लेख द्रष्टव्य है। वैवाहिक शाखोच्चार के मत्र का एक अश इस प्रकार है, 'गाय गोरख की भैंस मछन्दर की, छेरी अजैपाल की, गाडर महादेव की चरती आय चरती आय जहाँ महादेव की सिंगी बाजै , इत्यादि।

२. गोर विजय · कलकत्ता (१३२४ ब० सन्) पृ० ६५-७।

३. कबीर . पृ० ७।

४. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष मे जातिभेद, पृ० १४४।

५. वेन्स ने निम्नलिखित वयनजीवी जातियो का उल्लेख किया है—

	नाम	प्रदेश	१९०१ की जनसख्या
रुई सूत के वयनजीवी—	पटनूली ..	पश्चिम-भारत .	९०५००
	पटवे	उत्तर और मध्य-भारत	७२०००
	खतरी	पश्चिम भारत ...	५६२०००

रिजली ने बगाल के योगियो को दो श्रेणी का बताया है। दक्षिणी विक्रमपुर, त्रिपुरा और नोयाखाली के योगी मास्थ योगी कहलाते हैं और उत्तर विक्रमपुर और ढाका के योगी एकादशी कहलाते हैं।[1] रगपुर जिले के योगियो का काम कपडा बुनना, रगसाजी और चूना बनाना है। अब ये लोग अपना पेशा छोडते जा रहे हैं। इनके स्मरणीय महापुरुष हैं—गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ, और रघुनाथ आदि। इनके परम उपास्य देवता 'धर्म' हैं। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नही होते बल्कि इनकी अपनी ही जाति के लोग होते हैं। पुरोहितो को 'अधिकारी' कहते हैं। क्षौर-

---

	नाम	प्रदेश	१९०१ की जनसख्या
	ताँती	बगाल	७७२३००
	तँतवा	बिहार	१९७९००
	पेरिके	तामिल	६३०००
	जणप्पन	तामिल	८३०००
	कपाली	बगाल	१४४७००
	धोर	दाक्षिणात्य	४४००
	पाका	मध्यभारत	७२६७००
	गाडा	पूर्व-मध्यभारत	३७७८००
रुई सूत के वयनजीवी—	डोबा	बिहार	७६४००
	कोरी	उत्तर भारत	१२०४७००
	जुलाहा	उत्तर भारत	२९०७९००
	वलाही	राजपूताना, उ० भा०	२८५१००
	कैकोलन	तामिल	३५४७००
	साले	दक्षिण	६३९३००
	तोगट	कर्नाटक	६४५०००
	देवांग	कर्नाटक	२८८९०००
	नेयिगे	कर्नाटक	९७०००
	जुगी	बगाल	५३६६००
	कोष्टी..	दक्षिण, मध्यभारत	२७७४००
ऊन के वयनजीवी—	गड्डी...	पजाब	१०३८००
	गडरिया	उत्तर भारत	१२७२४००
	धगर हातकर	दक्षिण भारत	१०१५८००
	कुडुवर	दक्षिण भारत	१०६८००
	इडइयन	तामिल	७०२७००
	भरवाड	पश्चिम भारत	१०२९००

१ ब्रिग्स · पृ० ५१।

कर्म के समय बालको का कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। मृतक को समाधि दी जाती है। रगपुर के योगियो का प्रधान व्यवसाय चूना बनाना और भीख माँगना है परन्तु ढाका और टिपरा (त्रिपुरा) जिले मे उनका व्यवसाय वस्त्र बुनना ही है।[1] निजाय-राज्य के दवरे और रावल भी नाथ योगियो का गृहस्थ रूप है। इनके बच्चो से कान छेदने का सस्कार होता है और मृतको को समाधि दी जाती है। बम्बई प्रान्त के नाथो मे जो मराठे और कर्नाटकीय हैं वे गृहस्थ हैं। कोकण के गोसवी भी अपने को नाथ योगियो से सबद्ध बताते हैं। इनका भी कर्ण-छेद सस्कार होता है। इस प्रकार की योगी जातियाँ वरार गुजरात महाराष्ट्र करनाटक, और दक्षिण भारत मे भी पाई जाती हैं।[2]

इस प्रकार क्या वैराग्यप्रवण और गार्हस्थप्रवण सैकडो योगी सप्रदाय और जातियाँ समूचे भारत मे फैली हुई हैं। यह परम्परा वैदिक धर्म से भिन्न थी और अब भी बहुत कुछ है, इसका आभास ऊपर के विवरण से मिल गया होगा। हम आगे चल कर देखेंगे कि अनुमान निराधार नही हैं।

---

१. गोपीचदेर गान : (कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय भाग, भूमिका पृ० ३६-३७)।

२ ब्रिग्स . (पृ० ४४-६१) ने इस प्रकार की अनेक योगी जातियो का विवरण अपनी पुस्तक मे दिया है। विशेष विस्तार के लिए वह ग्रथ द्रष्टव्य है।

२

संप्रदाय के पुराने सिद्ध

'हठयोग प्रदीपिका' के आरम्भ मे ही नाथपथ के अनेक सिद्धयोगियो के नाम दिए हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि सिद्ध लोग आज भी जीवित हैं। हठयोग प्रदीपिका की सूची मे जिन सिद्धो मे नाम हैं वे ऐसे ही हैं जो कालदण्ड को खडित करके ब्रह्माण्ड मे विचर रहे हैं नाम इस प्रकार है।[१] —

आदिनाथ, मत्स्येद्रनाथ, सारदानद, भैरव, चौरगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हडीनाथ, कोरटकनाथ, सुरानद सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरजननाथ, कापालिनाथ, विंदुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोडाचूलीनाथ, टिण्टिणीनाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध और खण्डकापालिका। इनमे से अनेक सिद्धो के नाम कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गई है। कुछ के नाम तान्त्रिको, योगियो और निर्गुणिया सन्तो की परम्परा मे बचे हुए हैं और कुछ की अभिन्नता सहजयानी और वज्रयानी सिद्धो से स्थापित की जा सकती है। कुछ सिद्धो के विषय मे करामती कहानियाँ प्रचलित हैं पर उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक नही है।

सबसे आदि मे नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होंने सप्रदाय का प्रवर्तन किया था—ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये नौ नाथ कौन-कौन थे इसकी कोई सर्वसम्मत परम्परा बची नहीं है। 'महार्णव तन्त्र' मे नवनाथो को भिन्न-भिन्न दिशाओ मे 'न्यास' करने की विधि बताई गई है। उस पर से नवनाथो के नाम इस प्रकार मालूम होते हैं—गोरक्षनाथ, जालधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ और मत्स्येंद्रनाथ। कापालिको के बारह शिष्यो की चर्चा पहले ही की जा चुकी है उनमे से कई ऐसे है जिनका नाम 'हठयोग प्रदीपिका' के सिद्धयोगियो से अभिन्न है।[२]

'योगि सप्रदाय विष्कृति' मे[३] नवनारायणो के नवनाथो के रूप मे अवतरित

---

१ हठयोग प्रदीपिका।

२ देखिए, ऊपर, पृ० ४।

३ यो० स० आ० : पृ० ११-१४।

होने की कथा दी हुई है। परन्तु उसमे यह नही लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने किसका अवतार धारण किया था। फिर यह भी नही लिखा कि गोरक्षनाथ का अवतार किस नारायण ने लिया था। स्वय महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप मे अवतार धारण अवश्य किया था। ग्रथकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि महादेवजी ने गोरक्षनाथ नामक व्यक्ति को नवनाथो के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया था। तो क्या नवनाथो मे गोरक्षनाथ नही थे ? जिन नारायणो ने अवतार धारण किया था, वे इस प्रकार हैं . (यद्यपि ग्रथ मे यह नही लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने क्या अवतार धारण किया पर भूमिका मे[1] गोरक्षनाथ समेत जिन दस आचार्यों का नाम है उसमे नागनाथ का नाम भी है। सभवत आविर्होत्रनारायण ने नागनाथ का अवतार लिया था।)

१	कविनारायण	मत्स्येंद्रनाथ
२	करभाजननारायण	गाहनिनाथ
३.	अन्तरिक्षनारायण	ज्वालेंद्रनाथ (जालधरनाथ)
४	प्रबुद्धनारायण	करणिपानाथ (कानिपा)
५	आविर्होत्रनारायण	? नागनाथ
६.	पिप्पलायननारायण	चर्पटनाथ (चर्पटी)
७	चमसनारायण	रेवानाथ
८	हरिनारायण	भर्तृनाथ (भरथरी)
९	द्रुमिलनारायण	गोपीचन्द्रनाथ

इन आठ नाथो के साथ आदिनाथ (महादेव) का नाम जोड लेने से सख्या नौ होगी। गोरक्षनाथ दसवे नाथ हुए। 'महार्णवतत्र' मे जडभरत का नाम नव नाथों मे है परन्तु 'योगि सप्रदाया विष्कृति' उन्हें नौ नाथो से अलग मानती है। एक और नाथो की सूची है जो इससे भिन्न है परन्तु गोरक्षनाथ का नाम उसमे भी नही आता। वह सूची 'सुधाकर चद्रिका'[2] से ली गई है। इसके अनुसार नव नाथ ये हैं :

१. एकनाथ	४ उदयनाथ	७ सतोषनाथ
२. आदिनाथ	५. दण्डनाथ	८. कूर्मनाथ
३ मत्स्येंद्रनाथ	६. सत्यनाथ	९ जालधरनाथ

नेपाल की परम्परा मे एकदम भिन्न नाम गिनाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं[3] :—

१ प्रकाश	४. ज्ञान	७ स्वभा
२ विमर्श	५ सत्य	८. प्रतिभा
३ आनन्द	६. पूर्ण	९. सुभग

---

१. यो० स० आ० : पृ० ७।

२ सु० च० : पृ० २४१।

३. नेपाल कैटलाग, द्वितीय भाग : पृ० १४९।

इन सूचियो मे गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण स्पष्ट है। गोरखपंथी लोगो का विश्वास है कि इन नौ नाथो की उत्पत्ति श्री गोरखनाथ (जिन्हे श्रीनाथ भी कहते हैं) से हुई है। ये गोरख के ही नव-विध अवतार हैं। गोरखपथियो का सिद्धांत है कि गोरख ही भिन्न-भिन्न समय मे अवतार लेकर भिन्न-भिन्न नाथान्तनाम से अवतरित हुए हैं और गोरख ही अनादि अनन्त पुरुष हैं। उन्ही की इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि हुए हैं।[1] 'योगि सप्रदाया विष्कृति मे' शिव के गोरक्षरूप धारण करने के विषय मे यह मनोरजक कथा दी हुई है —यह प्रवाद परपरा से योगियो मे प्रचलित है कि महादेव को वश करने की इच्छा से प्रकृति देवी ने एक वार घोर तप किया था। इसलिए देवी का मान रखने और अपने को बचाने के हेतु से महादेवजी ने स्वय गोरक्ष नाम से प्रसिद्ध कृत्रिम पुतले महादेव का उससे विवाह किया। कभी रहस्य खुलने पर देवी ने फिर इसको वश करने का उद्योग किया, पर विफल हुई। 'पश्चिम दिशा से आई भवानी, गोरख छलने आई जियो।'—इत्यादि आख्यान से यह वृत्त आज तक गाया जाता है।[2]

इन सभी सूचियो मे सर्वसाधारण नाम इस प्रकार हैं—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालधरनाथ और गोरक्षनाथ। ये नाम तान्त्रिक सिद्धो मे भी परिचित हैं और तिब्बती परपरा के सहजयानी बौद्ध सिद्धो मे भी। 'ललिता सहस्र नाम'[3] मे तीन प्रकार के गुरु बताये गये हैं—दिव्य, सिद्ध और मानव। 'तारा रहस्य'[4] मे दो प्रकार के गुरुओ का उल्लेख है, दिव्य और मानव। प्रथम श्रेणी मे चार हैं और द्वितीय श्रेणी मे आठ। मानव दिव्यगुरु हैं—ऊर्ध्वकेशानदनाथ, व्योमकेशानदनाथ नीलकठानदनाथ और वृषध्वजानदनाथ। मानवगुरु ये हैं :—

१ वशिष्ठ	५ विरूपाक्ष
२ मीननाथ	६ महेश्वर
३ हरिनाथ	७ सुख
४ कुनेश्वर	८ पारिजात

इनमे केवल मीननाथ नाम नाथपथियो मे परिचित है। किन्तु अन्यान्य तन्त्रो मे मानव गुरुओ के जो नाम गिनाए गए हैं उनमे कई नाथ सिद्धो के नाम हैं। 'कौलावलीतत्र'[5] के अनुसार बारह मानव गुरु ये हैं :—

---

१. सु० च० पृ० २४१।

२ यो० स० आ० : पृ० १३।

३ ल० स० ना० : पृ० १५।

४ ता० र० पृ० ११५।

५ विमल. कुशरश्चैव भीमसेन सुसाधक.।
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेव प्रकीर्तित.॥
मूलदेव रन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो। -
समरानदसन्तोषी, मानवोघा प्रकीर्तिता॥ कौ० त० पृ० ७६

१ विमल	५ गोरक्ष	९ विघ्नेश्वर
२ कुशर	६ भोजदेव	१० हुताशन
३ भीमसेन	७ मूलदेव	११ समरानद
४ मीन	८ रतिदेव	१२. सतोष

लगभग ये ही नाम 'श्यामा रहस्य'[1] मे भी दिये हैं। श्यामा रहस्य के नाम इस प्रकार है :—

१ विमल	६ गोरक्ष	११ विघ्नेश्वर
२ कुशर	७ भोजदेव	१२ हुताशन
३. भीमसेन	८ प्रजापति	१३ सतोष
४ सुधाकर	९ कुलदेव	१४ समानद
५ मीन	१०. वृन्तिदेव	

इन दोनो सूचियो मे नामपत्र का भेद है। पहली सूची मे सुधाकर और प्रजापति के नाम नही हैं। 'भीमसेन सुसाधक' का 'सुसाधक' शब्द मैंने विशेषण मान लिया है। ऐसा जान पडता है कि परिवर्ती सूची मे गलती से 'सुसाधक' का 'सुधाकर' हो गया है। और 'प्रकीर्तित.' का 'प्रजापति' हो गया है। जो हो, इनमे गोरक्ष नाथ, मीननाथ और सतोषनाथ तथा भीमनाथ नाथमतावलम्बियो के सुपरिचित हैं। इस प्रकार मीननाथ, गोरक्षनाथ आदि का अनेक परपरा के सिद्धो मे परिगणित होना उनके प्रभाव और प्राचीनत्व को सूचित करता है। एसियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी मे एक ताल पत्र की पोथी है जिसका नम्बर ४८/३४—अक्षर वगला और लिपिकाल लक्ष्मण स० ३८८ दिया है। ग्रथकार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन् १३००-१३२१ ई०) के सभासद् थे। इस पोथी का नाम 'वर्ण रत्नाकर' है। इस पोथी मे चौरासी नाथ सिद्धो की तालिका दी हुई है। यद्यपि ग्रथकार उनकी सख्या चौरासी बताता है तथापि वास्तविक सख्या ७६ ही है।[2] लेखक के प्रमादवश शायद आठ नाम छूट गए हैं। इन ७६ नामो मे अनेक पूर्व परिचित हैं पर नये नाम ही अधिक हैं। तिब्बती परपरा के चौरासी सहजयानी सिद्धो से इनमे के कई सिद्ध अभिन्न हैं। दोनो सूचियो को आस-पास रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाथ-पथियो और सहजयानियो के अनेक सिद्ध उभय साधारण

---

१. विमलकुशरश्चैव भीमसेनः सुधाकरः।
मनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेवः प्रजापतिः॥
कुलदेवो वृन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
सतोष. समयानद. पान्तु मा मानवा. सदा॥ श्या० र० · पृ० २४

२ बो० गा० दो० : भूमिका पृ० ३६।

हैं। नीचे दोनों सूचियाँ दी गई हैं। पहली 'वर्णरत्नाकर' के नाथ सिद्धों की है और दूसरी महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन की संगृहीत वज्रयानियों की है[1] :—

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या वज्रयानी सिद्ध	विशेष
१ मीननाथ	१ लूहिपा	
२ गोरक्षनाथ	२ लीलापा	
३ चौरंगीनाथ	३ विरूपा	नाथ सिद्ध (=ना० सि०)
४ चामरीनाथ	४ डोम्भीपा	
५ तन्तिपा	५ शबरीपा	ना० सि० ४७ से तु०
६ हालिपा	६ सरहपा	
७ केदारिपा	७ कंकालीपा	
८ धोंगपा	८ मीनपा	ना० सि० १ से तु०
९ दारिपा	९ गोरक्षपा	ना० सि० ३
१० विरूपा	१० चौरंगीपा	ना० सि० ३
११ कपाली	११ वीणापा	
१२ कमारी	१२ शान्तिपा	ना० सि० ४४ से तु०
१३ कान्ह	१३ तन्तिपा	ना० सि० ५ से तु०
१४ कनखल	१४ चमारिपा	
१५ मेखल	१५ खड्गपा	
१६ उन्मन	१६ नागार्जुन	ना० सि० २२
१७ काण्डलि	१७ कण्हपा	ना० सि० १३ से तु०
१८ धोबी	१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९ जालंधर	१९ थगनपा	ना० सि० ४८ से तु०
२० टोंगी	२० नारोपा	
२१ मवह	२१ शलिपा (शीलपा) मृगाली पाद ?	ना० सि० ५१ से तु०
२२ नागार्जुन	२२ तिलोपा	
२३ दौली	२३ छत्रपा	
२४ भिषाल	२४ भद्रपा	ना० सि० ३७ से तु०
२५ अचिति	२५ दोखंधिपा (द्विखंडिपा)	
२६ चम्पक	२६ अजोगिपा	
२७ ढेण्टस	२७ कालपा	

१. गंगा-पुरातत्वांक : पौष माघ १९८९, पृ० २२१-२२४।

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयानी सिद्ध	विशेष
२८ भुम्बरी	२८ धोम्भिपा	ना० सि० १८ से तु०
२९ बाकलि	२९ ककणपा	
३० तुजी	३० कमरिपा (कबलपा)	ना० सि० ३४ से तु०
३१ चर्पटी	३१ डेंगिपा	ना० सि० ८ ?
३२ भादे	३२ भदेपा	ना० सि० ३२ से तु०
३३ चाँदन	३३ तघेपा (ततिपा)	
३४ कामरी	३४ कुकुरिपा	
३५ करवत	३५ कुचिपा (कुसूलिपा)	
३६ धर्मपाततग	३६ धर्मपा	ना० सि० ३६
३७ भद्र	३७ महीपा (महिलपा)	
३८ पातलिभद्र	३८ अचिन्तिपा	ना० सि० २५ से तु०
३९ पलिहिह	३९ भलहपा (भवपा)	
४० भानु	४० नलिनपा	
४१ मीन	४१ भूसुकपा	
४२ निर्दय	४२ इन्द्रभूति	
४३ मवर	४३ मेकोपा	
४४	४४ कुडालिपा (कुद्दलिपा)	ना० सि० ७ से तु०
४५ भर्तृहरि	४५ कमरिपा (कम्मरिपा)	ना० सि० १२ से तु०
४६ भीषण	४६ जालधरपा (जालधारक)	ना० सि० १९ से तु०
४७ भटी	४७ राहुलपा	
४८ गगनपा	४८ धर्मरिपा (धर्मरि)	
४९ गमार	४९ धोकरिया	
५० मेनुरा	५० मेदनीपा (हालीपा ?)	ना० सि० ६ से तु०
५१ कुमारी	५१ पकजपा	
५२ जीवन	५२ घटा (वज्रघटा) पा	
५३ अघोसाधव	५३ जोगीपा (अजोगिपा)	
५४ गिरिवर	५४ चेलुकपा	
५५ सियारी	५५ गुडरिपा (गोरुरपा)	
५६ नागवालि	५६ लुपिकपा	
५७ विभवत्	५७ निर्गुणपा	

संख्या नाम सिद्ध	संख्या महायानी सिद्ध	विशेष
५८ ब्रारग	५८ जयानन्त	
५९ विविरिपज	५९ चर्पटीपा (पचरीपा)	ना० सि० ३१ से तु०
६० मगरधज	६० चम्पकपा	ना० सि० २६
६१ त्रिधा	६१ भिखनपा	ना० सि० ४६ से तु०
६२ विन्दिन	६२ भलिपा	ना० सि० ६६ से तु०
६३ नेचक	६३	ना० सि० ५१ से तु०
६४ चाटम	६४ चमरि, (जमरि) अजपालिपा	ना० सि० ४ से तु०
६५ नाचन	६५ मणिभद्रा (योगिनी)	ना० सि० ७४ से तु०
६६ मीनो	६६ मेखलापा (योगिनी)	ना० सि० १५ से तु०
६७ पाह्लिन	६७ कनखलापा (योगिनी)	ना० सि० १४ से तु०
६८ पालन	६८ कलकलपा	
६९ कमल-कगारि	६९ कन्तालो (कन्थाली) पा	
७० चिरिल	७० धहुलि (रि) पा (दवटीपा ?)	
७१ गोविंद	७१ उधलि (उधलि) पा	
७२ भीम	७२ कपाल (कमल) पा	ना० सि० ६९ से तु०
७३ भैरव	७३ किलपा	
७४ भद्र	७४ नागरपा	
७५ भमरी	७५ सर्वभक्षपा	
७६ मुरकुटी	७६ नागबोधिपा	ना० सि० ५६ से तु०
७७	७७ दारिकपा	ना० सि० ६ से तु०
७८	७८ पुतुलिपा	
७९	७९ पनहपा	
८०	८० कोकालिपा	
८१	८१ अनगपा	
८२	८२ लक्ष्मीकरा	
८३	८३ समुदपा	
८४	८४ भलि (व्यालि) पा	

'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' मे प० लक्षण रामचन्द्र पागारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरुपरम्परा इस प्रकार बताई है—
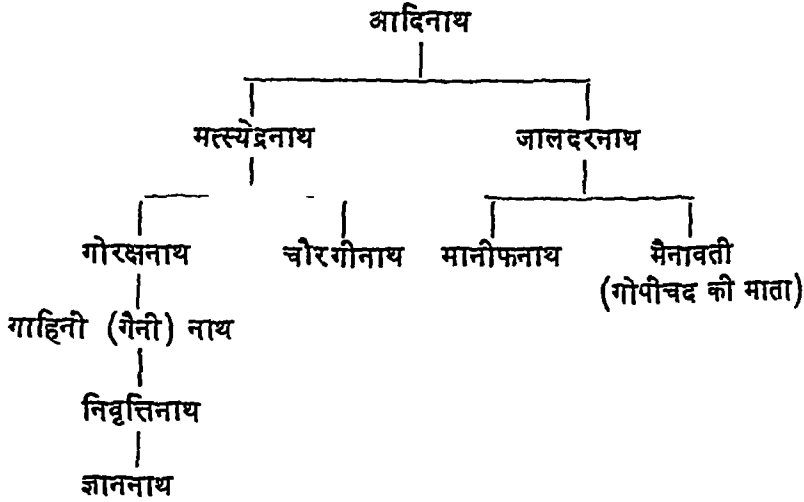
इस प्रकार यदि नवनाथो, कापालिको, ज्ञाननाथ तक के गुरु सिद्धो और 'वर्ण-रत्नाकर' के चौरासी नाथ-सिद्धो के नाथ परपरा मे मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरभ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धो के नाम उपलब्ध होते हैं नीचे इनकी सूची दी जा रही है। इनमे तत्र ग्रथो के मानव गुरुओ का उल्लेख नही है क्योंकि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। फिर नेपाली परपरा के नाथ शिव के आनद और शक्ति के प्रतीक से जान पडते हैं, व्यक्ति विशेष नहीं। आगे उन पर विचार करने का अवसर आएगा। यद्यपि नीचे की सूची मे १३७ सिद्धो के नाम हैं पर उनमे से कई अभिन्न से जान पडते हैं। कान्ह, कन्हडी, करणिपा, काणफीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण भेद से भिन्न रूप हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका' के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और 'वर्णरत्नाकर' के ढेण्टस एक ही सिद्ध हैं। 'वर्णरत्नाकर' की मेनुतुरा, मैना या मयनामती का ही नामान्तर जान पडता है। कालभैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और नागनाथ और नागार्जुन तथा नागवोध और नागावलि की विभिन्नता भी सदेह का विषय है। जहाँ सदेह ज्यादा है वहाँ हमने अलग से नाम गिनाना ही उचित समझा परन्तु इन सिद्धो मे सवा सौ के करीब ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं और वे तेरहवी शताब्दी (ईसवी सन् की) के समाप्त होने के पूर्व के ही हैं। स्पष्ट ही सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येंद्रनाथ, जालधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिपा हैं क्योंकि इनका नाम सब ग्रथो मे पाया जाता है। आगे इन पर विचार करके ही अन्य सिद्धो पर विचार किया जायगा।

सूची मे निम्नलिखित सकेत व्यवहृत हुए हैं·

वर्ण रत्नाकर	= व०	गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह	= गो०
महार्णव तत्र	= म०	योगि सम्प्रदाया विष्कृति	= यो०

हठयोग प्रदीपिका =ह० सुधाकर चद्रिका =सु०
ज्ञानेश्वर चरित्र =ज्ञा०

स०	नाम	आधार ग्रंथ	स०	नाम	आधार ग्रंथ
१	अक्षय	ह०	३२	गिरिवर	व०
२	अघोसाधव	व०	३३	गाहिनी नाथ	ज्ञा०, यो०
३	अचित	व०	३४	गोपीचन्द्रनाथ	यो०, गो०
४	अजपानाथ	यो०	३५	गोरक्षनाथ	सब
५	अजयनाथ	यो०	३६	गोविंद	व०
६	अतिकाल	का०	३७	घोडा चूली	ह०
७	अनादिनाथ	का०	३८	चर्पट	का०ह्रा०व०गो०
८	अवद्य	का०	३९	चाटल	व०
९	आदिनाथ	सब	४०	चम्पक	व०
१०	उदयनाथ	सु०, गो०	४१	चांदन	व०
११	उनमन	व०	४२	चामरी	व०
१२	एकनाथ	सु०, गो०	४३	चिपिल	व०
१३	कनखल	व०	४४	चौरंगी	ह०, व०, ज्ञा०
१४	कमलकगारि	व०	४५	जडभरत	म०, का०
१५	कथाधारी	ह०	४६	ज (जा) लधर	सब
१६	कन्हडी	ह०	४७	जीवन	व०
१७	करवत	व०	४८	ज्ञाननाथ	ज्ञा०
१८	काणेरी	ह०, गो०	४९	टोगी	व०
१९	काण्हालि	व०	५०	ढिण्ढिणी	ह०
२०	कान्ह (करणिपा)	व० (यो०) ज्ञा०	५१	ढेण्टस	व०
२१	कामरी	व०	५२	ततिपा	व०
२२	कापालि	ह०	५३	तारकनाथ	यो०
२३	काल	का०	५४	तुजी	व०
२४	काल भैरवनाथ	का०	५५	दण्डनाथ	सु०, गो
२५	कुमारी	व०	५६	दत्तात्रेय	म०
२६	कूर्मनाथ	सु०, गो०	५७	दारिपा	व०
२७	केदारिपा	व०	५८	देवदत्त	म०
२८	कोरटक	ह०	५९	दौली	व०
२९	खण्ड कापालिक	ह०	६०	धर्मपापतग	व०
३०	गगनपा	व०	६१	धोगपा	व०
३१	गमार	व०	६२	धोरग (दूरगम)	यो०

स०	नाम	आधार ग्रंथ	स०	नाम	आधार ग्रंथ
६३	धोबी	व०	९६	भूतनाथ	का०
६४	नागनाथ	यो०	९७	भूम्बरी	व०
६५	नागवालि	व०	९८	भैरव	का०, व०
६६	नागबोध	ह०	९९	मगरधन	व०
६७	नागार्जुन	का०, म० व०	१००	मत्स्येंद्रनाथ	व० के सिवा सब
६८	नाचन	व०	१०१	मन्थानभैरव	ह०
६९	नित्यनाथ	ह०	१०२	मय	ह०
७०	निरंजन	ह०, यो०	१०३	मवह	व०
७१	निर्दय	व०	१०४	मलयार्जुन	का०
७२	निवृत्तिनाथ	ज्ञा०	१०५	महाकाल	का०
७३	नीमनाथ	यो०	१०६	माणिकनाथ	यो०
७४	मेचक	व०	१०७	मालीपाव	गो०
७५	पलिहिह	"	१०८	मीन	ह०,व०,यो०गो०
७६	पातलीभद्र	"	१०९	मेखल	व०
७७	पासल	"	११०	मेनुरा (मयनामती)	व० (ज्ञा०)
७८	पूज्यपाद	ह०	१११	रेवानाथ	यो०
७९	प्रभुदेव	"	११२	विकराल	का०
८०	वटुक	का०	११३	विचित	व०
८१	वाकलि	व०	११४	विंदुनाथ	ह०, यो०
८२	भटी	व०	११५	विभवत्	व०
८३	भद्र (१)	व०	११६	विरूपा	व०
८४	भद्र (२)	व०	११७	विरूपाक्ष	ह०
८५	भमरी	व०	११८	विविगघज	व०
८६	भर्तृहरि	व०, यो०	११९	विलेशय	ह०, यो०
८७	भवनार्जि:	गो०	१२०	वीरनाथ	का०
८८	भल्लटि	ह०	१२१	वैराग्य	का०
८९	भादे	व०	१२२	शम्भुनाथ	यो०
९०	भानु	व०	१२३	श्रीकंठ	का०
९१	भिपाल	व०	१२४	सत्यनाथ	का, सु० गो०
९२	भीमनाथ	का०, व०	१२५	सन्तोषनाथ	सु०, गो०
९३	भीषण	व०	१२६	सवर	व०
९४	भीलो	वा०	१२७	सहस्रार्जुन	म०
९५	भुरुकुटी	व०	१२८	सारदानंद	ह०

स०	नाम	आधार ग्रथ	स०	नाम	आधार ग्रथ
१२९	सान्ति	व०	१३४	सुगनद	ह०
१३०	सारग	व०	१३५	सूर्यनाथ	यो०
१३१	सिद्धपाद	ह०	१३६	हरिश्चन्द्र	का०
१३२	सिद्धवोध	ह०	१३७	हालिपा	व०, गो०
१३३	सियारी	व०			

कभी कभी परवर्ती ग्रथो मे इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धो मे गिने गए हैं। 'प्राण सगली' नामक सिख ग्रथ मे गुरु नानक के साथ चौरासी सिद्धो के साथ साक्षात्कार का प्रसग है। इन चौरासी सिद्धो मे कई प्रकार के सिद्ध थे। कुछ सुरति-सिद्ध थे कुछ निरति-सिद्ध और कुछ कनक-सिद्ध। कुछ सिद्ध कोधी और तामसिक प्रकृति के भी थे। इस पुस्तक से निम्नलिखित सतो का पता लगता है—

१ परवत सिद्ध (पृ० १५४)
२ ईश्वरनाथ (पृ० १५५)
३ चरपटनाथ (पृ० १५५)
४. घुघूनाथ (पृ० १५६)
५ चपानाथ (पृ० १५६)
६ खिथडनाथ (कथडि ?) (पृ० १६२)
७ झगरनाथ (पृ० १६१)
८ धूर्मनाथ (ऊरमनाथ) (पृ० १६५)
९ घगरनाथ (पृ० १६७)
१० मगलनाथ (पृ० १६९)
११ प्राणनाथ (पृ० १६९)

परवर्ती ग्रथो मे सिद्धो के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी कभी भ्रम होता है कि दूसरा कोई सिद्ध है। इस प्रकार नागार्जुन नागाअरजन्द हो गए हैं, नेमिनाथ नीमनाथ वन गए हैं और कथाधारी खिथड हो गए हैं। सप्रदाय प्रवर्तक सिद्धो मे कुछ तो पुराने हैं। कुछ नए हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका मूल नाम विकृत हो कर कुछ का कुछ हो गया है।

३

मत्स्येंद्रनाथ कौन थे ?

नाथ-परपरा मे आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येद्रनाथ ही है। हमने यह पहले देखा है कि आदिनाथ शिव का ही नामान्तर है। सो, मानव गुरुओ मे मत्स्येद्रनाथ ही इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य हैं। ये गोरखनाथ के गुरु थे। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार थे। नाथ परम्परा के आदि गुरु माने जाते हैं और कौलाचार के वे सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीर के शैवागमो मे भी इनका नाम बडे सम्मान के साथ लिया जाता है। वस्तुत मध्ययुग के एक ऐसे युगसधिकाल मे मत्स्येद्र का आविर्भाव हुआ था कि अनेक साधन मार्गों के ये प्रवर्तयिता मान लिए गए हैं। सारे भारतवर्ष मे उनके नाम की सैकडो दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। प्राय: हर दन्तकथा मे वे अपने प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के साथ जडित हैं। यह कहना कठिन है कि इन दन्तकथाओ मे ऐतिहासिक तथ्य कितना है, परन्तु नानामूलो से जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य पाया जाता है उनसे दन्तकथाओ की यथार्थता बहुत दूर तक प्रमाणित हो जाती हैं। इसीलिये उनके काल, साधन-मार्ग और विचार-परम्परा के ज्ञान के लिये दन्तकथाओ पर थोडा-बहुत निर्भर किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न इनके नाम का है। योगि-सप्रदाय मे 'मछन्दरनाथ' नाम प्रसिद्ध है। परवर्ती सस्कृत ग्रथो मे इसका शुद्ध रूप मत्स्येद्रनाथ दिया हुआ है। परन्तु ऐसा जान पडता है कि साधारण योगी मत्स्येद्रनाथ की अपेक्षा 'मछन्दरनाथ' नाम को ही अधिक पसद करते हैं। श्री चद्रनाथ योगी जैसे सुधारक मनोवृत्ति के महात्मा को बडे दु ख के साथ कहना पडता है कि मत्स्येंद्रनाथ को मच्छन्दरनाथ और गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहना योगि सप्रदाय के घोर पतन का सबूत है (पृ० ४४८-६)। परन्तु बहुत प्राचीन पुस्तको मे इनके इतने नाम पाये गए हैं कि इनके प्राकृत नाम की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होती है और यह बात सन्दिग्ध हो जाती है कि परवर्ती ग्रथो मे व्यवहृत मत्स्येद्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है। मत्स्येद्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तके नेपाल की दरबार लाइब्रेरी मे सुरक्षित हैं। उनमे एक का नाम है 'कौलज्ञान निर्णय'। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री

ने अनुमान किया था कि वह ईसवी सन् की नवी शताब्दी का लिखा हुआ है ।[1] हाल ही मे कलकत्ता विश्वविद्यालय के (अब विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के) अध्यापक डॉ० प्रबोधचद बागची ने उस पुस्तक का तथा मत्स्येंद्रनाथ की लिखी अन्य चार पुस्तको का बहुत सुन्दर सपादित सस्करण प्रकाशित कराया है । बाकी चार पुस्तके ये हैं—अकुल-वीरतत्र'—ए, 'अकुलवीरतत्र'—बी, 'कुलानन्द और ज्ञान कारिका' । डॉ० बागची के अनुसधान से ज्ञात हुआ है कि वस्तुत इन ग्रथों की हस्तलिपि ईसवी सन की ग्यारहवी शताब्दी के मध्यभाग की है, नवी शताब्दी की नही । इन पुस्तको की पुष्पिका मे आचार्य का नाम कई प्रकार से लिखा गया है । नीचे वे दिये जा रहे हैं—

कौलज्ञाननिर्णय मे—मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येंद्रपाद और मीनपाद

अकुलवीरतत्र मे—(ए) मीनपाद
(बी) मच्छेन्दपाद

कुलानद मे —मत्स्येंद्र

ज्ञानकारिका मे—मच्छिन्द्रनाथपाद

मच्छेन्द्र, मच्छिन्द्र और मच्छेन्द आदि नाम मत्स्येद्रनाथ के अपभ्र श रूप हो सकते है पर 'मच्छघ्न' शब्द मत्स्येंद्र का प्राकृत रूप किसी प्रकार नही हो सकता । इस नाम पर से हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ मछली मारने वाली कैवर्त्त जाति मे उत्पन्न हुये थे । 'कौलज्ञान निर्णय' से भी मत्स्यघ्न नाम का समर्थन होता है । इस ग्रथ से पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ थे तो ब्राह्मण परन्तु एक विशेष कारण से उनका नाम 'मत्स्यघ्न' पड गया । कार्तिकेय ने 'कुलागम शास्त्र को' चुरा कर समुद्र में फेक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिये स्वय भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येंद्रनाथ का अवतार धारण कर समुद्र मे घुसकर उस शास्त्र का भक्षण करने वाले मत्स्य का उदर विदीर्ण करके शास्त्र का उद्धार किया । इसी कारण से वे 'मत्स्यघ्न' कहलाए ।

यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द्र' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या की है । इनके मत से आतान-वितान-वृत्यात्मक जाल को छिन्न करने के कारण उनका नाम 'मच्छन्द' पडा ।'[2] और तत्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'मच्छ' चपल चित्तर्थत्तियो को कहते हैं । ऐसी वृत्तियो को

---

१ नेपाल कैटलॉग : २ य भाग, पृ० XIX

२ रागारुण ग्रथिविलावकीण यो जालमातान वितान वृत्ति—
कलोम्भित बाह्यपथे चकार स्यामे स मच्छन्दविभुः प्रसन्न. ।। १।१७
—तत्रालोक . प्रथम भाग, पृ० २५

छेदन करने के कारण हो वे 'मच्छन्द' कहलाए ।[1] कबीर-सम्प्रदाय मे अब भी 'मच्छ' शब्द मन अर्थात् चपल चित्तवृत्तियो को कहते हैं ।[2] यह परपरा अभिनवगुप्त तक जाती है । उसके पहले भी ऐसी परपरा नही रही होगी यह नही कहा जा सकता । प्राचीन-तर बौद्ध सिद्धो के पदो से इस प्रकार के प्रमाण सग्रह किए जा सके हैं कि 'मत्स्य' प्रज्ञा का वाचक था । इस प्रकार मत्स्येंद्रनाथ की जीवितावस्था मे ही, मच्छघ्न के प्रतीकात्मक अर्थ मे उनका कहा जाना असगत कल्पना नही है ।

एक और प्रश्न उठता है कि मत्स्येनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न । 'हठयोग प्रदीपिका' मे मीननाथ को मत्स्येद्रनाथ से पृथक व्यक्ति बताया गया है । डा० बागची कहते हैं कि यह बात बाद की कल्पना जान पडती है । 'कौल-ज्ञान निर्णत' मे कई जगह मीननाथ का नाम आने से उन्हें इस विषय मे कोई सदेह नही कि मत्स्येद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं । साम्प्रदायिक अनु-श्रुतियो के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र थे ।[3] डा० बागची इस मत को पर-वर्ती कल्पना मानते हैं । परन्तु सिद्धो की सूची देखने से जान पडता है कि यह परपरा काफी पुरानी है । तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येद्रनाथ के पिता थे ।[4] इस प्रकार यह एक विचित्र उलझन है । (१) 'कौलज्ञान निर्णय के अनुसार मीननाथ मत्स्येंनाथ से अभिन्न हैं (२) साप्रदायिक अनुश्रुति मे वे मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र हैं, और (३) तिब्बती परपरा मे वह स्वय मत्स्येंद्रनाथ के ही पिता हैं, फिर (४) नेपाल मे प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येद्रनाथ के छोटे भाई हैं ! !

'वर्णरत्नाकर' मे प्रदत्त नाथ सिद्धो की सूची काफी पुरानी है । इसमे प्रथम सिद्ध का नाम मीननाथ है और ४१वें सिद्ध का नाम मीन है । प्रथम सिद्ध मीननाथ निश्चय ही मत्स्येद्रनाथ हैं । इकतालीसवे मीन कोई दूसरे हैं जो मीननाथ की शिष्य परपरा में पडने के कारण उनके पुत्र मान लिये गये होंगे । परन्तु 'वर्ण रत्नाकर' से स्पष्ट रूप से दो बातें मालूम होती हैं—(१) यह कि मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ एक ही प्रथम नाथ सिद्ध के दो नाम हैं और (२) यह कि 'हठयोग प्रदीपिका' मे मत्स्येद के अतिरिक्त भी जो एक मीन नाम आता है उसका कारण यह है कि वस्तुत ही नाथ परपरा मे एक और भी मीन नामधारी सिद्ध हो चुके हैं ।

मत्स्येद्रनाथ और मीननाथ के एक होने का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि 'तन्त्रालोक' की टीका मे जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए हैं इनमे शिव ने कहा है कि मीननाथ नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ मे मुझ से योग

---

१ मच्छा पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः ।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः ॥

२ विचारदास की टीका : पृ० ४०

३ यो० स० आ० . पृ० २२७ और आगे ।

४ बौ० गा० दो० : पृ० ४॥ ≡ गगा पुरातत्वाक . पृ० २२१ ।

पाया था।[1] निस्सदेह टीकाकार के मन मे 'कौलज्ञान निर्णय' नाम ग्रथ ही रहा होगा क्योकि उन्होने लिखा है कि यह मच्छन्द 'सकुल कुल शास्त्रो के अवतारक रूप मे प्रसिद्ध हैं'[2] यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कौलज्ञान की पुष्पिका' मे बराबर मच्छन्द या मत्स्येद्रनाथ को 'योगिनी कौलज्ञान' का अवतारक बताया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल मे मत्स्येद्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था।

ये मत्स्येंद्रनाथ कौन थे और किस कुल तथा देश मे उत्पन्न हुए थे ? इनके रचित ग्रन्थ क्या हैं ? इनका साधन मार्ग क्या था और कैसा था ? इत्यादि प्रश्न सहज-समाधेय नहीं हैं। सारे देश मे इनके तथा इनके गुरु भाई जालधरनाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के सम्बन्ध मे इतनी तरह की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं कि उनके आधार पर इतिहास को खोज निकालना काफी कठिन है। फिर भी सभी परम्पराएँ कुछ बातो मे मिलती हैं इसीलिये उन पर से ऐतिहासिक ककाल का अनुमान हो सकता है।

किसी किसी पडित ने बौद्ध सहजयानियो के आदि सिद्ध लुईपाद और मत्स्येंद्र-नाथ को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है। लुई शब्द को लोहित (=रोहित =मत्स्य) शब्द का अपभ्र श मान कर इस मत की स्थापना की गई है। इस कल्पना का एक और भी कारण यह है कि तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार लुईपाद का एक और नाम मत्स्यान्त्राद (=मछली की अतडी खाने वाला) दिया हुआ है। यह नाम मच्छघ्न नाम से मिलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कल्पना को बल मिलता है। यदि यह कल्पना सत्य हो तो मत्स्येद्रनाथ का समय आसानी से मालूम हो सकता है। लुई-पाद के एक ग्रथ मे दीपकर श्री ज्ञान ने सहायता दी थी। ये दीपकर श्रीज्ञान सन् १०३८ ई० मे ५८ वर्ष की उमर मे विक्रमशिला से तिब्बत गए थे।[6] अतएव लुईपाद का समय इसी के आस पास होगा। परन्तु कई कारणो से लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ के एक व्यक्ति होने मे संदेह है। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ पर तो बहुत नाराज है पर मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार

---

१ भैरव्या भैरवात् प्राप्त योग व्याप्य तत· प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना॥

—तन्त्रालोक टीका . पृ० २४

२. स च (मच्छन्द·) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्ध.।—वही

३ तु०—पद्मावतारित ज्ञान कामरूपी त्वया मया।

—कौ० ज्ञान० नि० : १६-२१

४. राहुल जी के मत से सहजयानियो के आदि सिद्ध सरह थे, लुई नही।

५. बौ० गा० दो० · पृ० १५।

६. बौ० गा० दो० : पृ० १५।

मानते हैं। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे। उस समय उनका नाम अनगवज्र था (यद्यपि शास्त्री जी को कोई विश्वसनीय प्रमाण मिला है कि गोरक्षनाथ का पुराना नाम अनागवज्र नही बल्कि रमणवज्र था।) इसलिये नेपाली बौद्ध उन्हे धर्मत्यागी समझ कर घृणा करते हैं। परन्तु मत्स्येंद्रनाथ पर जब उनकी श्रद्धा है तो मानना पडेगा कि वे धर्मत्यागी नही हो सकते। शास्त्रीजी का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नही, क्योकि मत्स्येंद्रनाथ का पूर्व नाम मच्छघ्न था अर्थात् वे मछली मारने वाले कैवर्त थे। बौद्धो के स्मृतिग्रथो मे लिखा है कि जो लोग निरन्तर प्राणि-हत्या करते हैं उनको – जैसे जाल फेंकने वाले मल्लाह, कैवर्त आदि को—बौद्धधर्म मे दीक्षित नही करना चाहिए। इसलिये मच्छघ्ननाथ बौद्ध नही हो सकते। वे नाथ-पथियो के ही गुरु थे फिर भी नेपाली बौद्धो के उपास्य हो सके हैं।[1] शास्त्रीजी की युक्ति सपूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं मालूम होती क्योकि बौद्ध सिद्धो मे कम से कम एक मीनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है।[2] परतु आगे हम जो विचार करने जा रहे हैं उससे इतना निश्चित है कि शास्त्रीजी का यह मन्तव्य कि मत्स्येद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नही ठीक है। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के अनुसार गोरक्षनाथ पहले बौद्ध तान्त्रिक ही थे पर बारहवी शताब्दी मे सेन राजवश के अत के साथ वे शिव (ईश्वर) के उपासक हो गए क्योकि वे मुसलमान विजेताओं का विरोध नही करना चाहते थे।[3]

'गोरक्ष शतक' के दूसरे श्लोक मे मीननाथ को अपना गुरु मानकर गोरक्षनाथ ने स्तुति की है। वही श्लोक 'गोरक्षसिद्धान्त सग्रह' (पृ० ४०) मे 'विवेक मार्तण्ड' का कहकर उद्धृत है। इसमे मीननाथ की स्तुति है। प्रसग से ऐसा जान पडता है कि ये मीननाथ मत्स्येद्रनाथ ही हैं। इसमे कहा गया है कि जिन्होंने मूलाधारबध उड्डियानबध, जालधरबध आदि योगाभ्यास से हृदय-कमल मे निश्चय दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप मे चक्कर काटने वाले काल के रहस्यो को तथा समस्त तत्त्वो को योगाभ्यास से जय कर लिया था और स्वय ज्ञान और आनद के महासमुद्र श्री आदिनाथ का स्वरूप हो गए थे उन श्री मीननाथ को प्रणाम है।[4] उसी ग्रथ मे मीननाथ का कहा हुआ एक श्लोक है जिसमे बताया

---

१ बौ० गा० दो : पृ० १६।

२ राहुल साकृत्यायन : गगा पुरातत्त्वाक, पृ० २२१।

३ (१) गेशिस्टेदे स बुधिस्म ट्रा० इन-इण्डिएन, ट्रा० शीफनेर० सेट पीटर्सबर्ग सन् १८६८, पृ० १७४, २५५, ३२३।
   (२) लेवी, ल नेपाल - पृ० ३५५ और आगे।
   (३) ग्रियर्सन इ० रे० ए० : पृ० ३२८।

४ अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि-
   र्यो योगीयुगकल्पकालकलनातत्त्व च यो गीयते।

गया है कि योगी लोग जिस शिव की उपासना करते हैं उनके कोपानल से कामदेव जलकर भस्म हो गया था। इस पर से ग्रथ सग्रहीता ने निष्कर्ष निकाला है कि योगी लोग कामभाव के विरोधी हैं और उनका मत पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है।[1] स्पष्ट ही स्मर दीपिका के ग्रथकार मीननाथ[2] यह मीननाथ नही हो सकते क्योकि दोनो के प्रतिपाद्य परस्पर-विरुद्ध हैं। वस्तुतः स्मर-दीपिकाकार कोई दूसरे मीननाथ हैं और नाथ मार्ग से उनका कोई सम्बद्ध नही है। यह ध्यान देने की बात है कि 'गोरक्ष 'शतक के टीकाकार लक्ष्मीनारायण भी मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ को एक ही मानते हैं।[3]

नेपाल दरबार लाइब्रेरी मे 'नित्याह्निकतिलकम्' नामक पुस्तक है। इस मे एक जगह पचीस कौल सिद्धो के नाम, जाति, जन्म-स्थान, चर्यानाम, गुप्तनाम, कीर्ति-नाम और उनकी शक्तियो के नाम दिए हुए हैं। डा० बागची ने 'कौल ज्ञान निर्णय'

ज्ञानान्मोदमहोदधि समभवद्यत्रादिनाथ स्वय
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिक तमनिश श्री मीननाथभजे ॥

'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे यह श्लोक अशुद्ध रूप मे उद्धृत है। इसका शुद्ध रूप प० महीधर शर्मा की पुस्तक मे उपलभ्य है। तदनुसार द्वितीय पक्ति के 'यो गीयते' के स्थान मे 'जेगीयते' पाठ होना चाहिए। तृतीय पक्ति के आरभ मे 'ज्ञानामोद-महोदधि.' होना चाहिये और 'आदिनाथ' के स्थान मे 'आदिनाथः' पाठ होना चाहिए (—गो० प०, पृ० ७) इसका यही शुद्ध रूप 'गोरक्ष-शतक' मे भी मिलता है (ब्रिग्स, पृ० २८४),

१ परमहसास्तु कामनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम् ? तदुक्त श्री मीन-नाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूत. कृत· स्मर।
अर्द्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तु ते।
अतो महासिद्धा विषयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति ॥

—गो० सि० स०, पृ० ६६-६७

२ 'नागर सर्वस्व' (पद्मश्री-विरचित) बबई १८२१ की टिप्पणी मे प० तनसुखराम शर्मा ने मीननाथ नामक एक कामशास्त्रीय आचार्य की पुस्तक 'स्मर दीपिका' से अनेक वचन उद्धृत किए हैं।

३ लेवी (ल नेपाल, जि० १, पृ० १५५) ने लिखा है कि श्रीनाथ महाराज जोशी साखर (सार्थ ज्ञानेश्वरी, १८-१७५४) ने मीननाथ का अनुवाद मत्स्येंद्रनाथ किया है। इस पर टीका करते हुए ब्रिग्स ने (पृ० २३०) लिखा है कि बगाल मे मीन-नाथ मत्स्येद्रनाथ से भिन्न माने जाते हैं। कहना व्यर्थ है कि यह बात आंशिक रूप मे ही सत्य है।

की भूमिका मे इस सूची को उद्धृत किया है। इस सूची मे एक नाम मत्स्येंद्रनाथ भी है। इसके अनुसार मत्स्येंद्रनाथ का विवरण इस प्रकार है—

नाम—विष्णुशर्मा
जाति—ब्राह्मण
जन्मभूमि—वारणा (बग देश)
चर्यानाम—श्री गोडीशदेव
पूजानाम—श्री पिप्लीशदेव
गुप्तनाम—श्री भैरवानन्द नाथ

कीर्तिनाम—तीन थे। ये भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न सिद्धियो को दिखाने मे प्राप्त हुए थे। प्रथम कीर्तिनाम वीगानदनाथ था, पर जब इद्र से अनुगृहीत हुए तब इन्द्रानददेव हुआ, फिर जब मर्कट नदी मे बैठ कर समस्त मत्स्यो को कर्षित किया तो मत्स्येंद्रनाथ नाम पडा। यह कीर्तिनाम ही देश-विश्रुत हुआ है।

शक्ति नाम—इनकी शक्ति का नाम श्री ललिताभैरवी अम्बा पापू था। चद्र-द्वीप के बारे मे तरह-तरह के अटकल लगाए गए हैं। किसी के मत से वह कलकत्ते के दक्षिण मे अवस्थित सुदर वन है (क्योकि सुन्दर वस्तुत 'चद्र' का ही परवर्ती रूपान्तर है)। और किसी किसी के मत से नवाखाली जिले मे। पागलबाबा ने मुझे बताया था कि चद्रद्वीप कोई आसाम का पहाडी स्थान है जो नदी के बहाव से घिरकर द्वीप जैसा बन गया है। अब भी योगी लोग उस स्थान पर तीर्थ करने जाते हैं। चद्रद्वीप कामरूप के आस-पास ही कोई जगह होगी क्योकि यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप मे साधना की थी। तत्रालोक की टीका से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। नदी के बहाव से घिरे हुए स्थान को पुराने जमाने मे द्वीप कहते थे। 'नवद्वीप' नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ-नगर इसी प्रकार के बहावो के मध्य मे स्थित नौ छोटे-छोटे टापुओ (द्वीपों) को मिला कर बसा था। 'रत्नाकर जो पम कथा' नामक भोट ग्रथ से भी चद्रद्वीप का लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के भीतर होना पुष्ट होता है (गगा, पुरातत्वाक पृ०२२४) परन्तु 'कौलज्ञान निर्णय' १६वे पटल से जान पडता है कि चद्रद्वीप कही समुद्र के आस-पास था। 'योगिसप्रदाया विष्कृति' (पृ० २२) मे चद्रगिरि नामक स्थान को गोरक्ष-नाथ की जन्मभूमि कहा गया है। यह स्थान गोदावरी गगा के समीपवर्ती प्रदेश मे बताया गया है।

४

मत्स्येंद्रनाथ-विषयक कथाएँ और उनका निष्कर्ष

मत्स्येंद्रनाथ-विषयक मुख्य कहानियाँ नीचे सग्रह की जा रही हैं—

१. कौलज्ञान निर्णय (१६-२६-३६)

भैरव और भैरवी चन्द्रद्वीप मे गए हुए थे । वहाँ कार्तिकेय उनके शिष्य रूप मे पहुँचे । अज्ञान के प्राबल्य से उन्होंने महान् 'कुलागम शास्त्र' को समुद्र मे फेक दिया । भैरव ने समुद्र मे जाकर मछली का पेट फाड कर उस शास्त्र का उद्धार किया इस कार्य से कार्तिकेय बहुत क्रुद्ध हुए । उन्होने एक बडा-सा गड्ढा खोदा और छिपकर दुवारा उस शास्त्र को समुद्र मे फेक दिया । इस बार एक प्रचण्डतर शक्तिशाली मत्स्य ने उसे खा लिया । भैरव ने शक्ति-तेज से एक जाल बनाया और उस मत्स्य को पकडना चाहा । पर वह प्राय उतना ही शक्ति-सम्पन्न था जितना स्वय भैरव थे । हार कर भैरव को ब्राह्मण वेश त्याग करना पडा । उस महामत्स्य का उदर फिर से विदीर्ण करके उन्होने 'कुलागम शास्त्र' का उद्धार किया ।

२. बंगला मे मीननाथ

(मत्स्येंद्रनाथ) के उद्धार के सबध मे दो पुस्तके प्राप्त हुई हैं । एक फयजुल्ला का 'गोरक्षविजय' और दूसरी श्यामादास का 'मीन चेतन' । दोनो पुस्तके वस्तुत. एक ही हैं । इनमे जो कहानी दी हुई है उसे श्री सुकुमार सेन के बगला साहित्य के इतिहास, पृ० ८३७ से सक्षिप्त रूप मे सग्रह किया जा रहा है—

आद्य और आद्या ने पहले देवताओ की सृष्टि की । बाद मे चार सिद्धो की उत्पत्ति हुई । पश्चात् एक कन्या भी उत्पन्न हुई, नाम रखा गया, गौरी । आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया और पृथ्वी पर चले आए । चारो सिद्धो ने, जिनके नाम मीननाथ गोरक्षनाथ, हाडिफा (जालधरिनाथ) और कानफा (कानूपा कृष्णपाद) थे, वायुमात्र के आहार से, योगाभ्यास आरभ किया । गोरक्षनाथ मीननाथ के सेवक हुए और कानपा (कानफा) हाडिपा (हाडिफा) के । उधर एक दिन गौरी ने शिव के गले मे मुण्डमाला देखकर उसका कारण पूछा । शिव ने बताया कि वस्तुत. वे मुण्ड गौरी के ही हैं । गौरी हैरान ! क्या कारण कि वे बरावर मरती रहती हैं और

शिव कभी नही मरते । पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नही है । चलो हम लोग क्षीर सागर मे 'टग' (=डोंगी) पर बैठ कर इस ज्ञान के विषय मे वार्तालाप करें । दोनो ही क्षीर सागर पहुँचे, इधर श्री मीननाथ मछली बन कर टग के नीचे बैठ गए । देवी को सुनते सुनते जब नीद आ गई तब भी मीननाथ हुँकारी भरते रहे । इस आवाज से जब देवी की निद्रा टूटी, तो वे कह उठीं कि मैंने तो महाज्ञान सुना ही नही । शिव विचारने लगे कि यह हुँकारी किसने भरी । देखते हैं तो 'टग' के नीचे मीननाथ हैं । उन्होने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम एक समय महाज्ञान भूल जाओगे ।

आदिगुरु शिव कैलास पर्वत पर चले गए और वही रहने लगे । गौरी ने उनसे बार-बार आग्रह किया कि वे सिद्धो को विवाह करके वश चलाने का आदेश दें । शिव ने कहा कि सिद्ध लोगो मे काम-विकार नही है । गौरी ने कहा भला यह भी सम्भव है कि मनुष्य के शरीर मे काम विकार हो ही नही, आप आज्ञा दे तो मैं परीक्षा लूं । शिव ने आज्ञा दे दी । चारो सिद्ध चार दिशाओ मे तप कर रहे थे—पूरब मे हाडिफा, दक्षिण मे कानफा, पश्चिम मे गोरक्ष और उत्तर मे मीननाथ । देवी को परीक्षा का अवसर देने के लिए शिव ने ध्यान बल से चारो सिद्धो का आवाहन किया । चारो उपस्थित हुए । देवी ने भुवनमोहिनी रूप धारण करके सिद्धो को अन्न परोसा । चारो ही सिद्ध उस रूप पर मुग्ध हुए । मीननाथ ने मन ही मन सोचा कि यदि ऐसी सुदरी मिले तो आनन्द केलि से रात काटूं । देवी ने उन्हे शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूल कर कदली देश मे सोलह सौ सुन्दरियो के साथ कामकौतुक मे रत होगे । हाडिफा ने ऐसी सुन्दरी का झाडू दार होने मे भी कृतार्थ होने की अभिलाषा प्रकट की और फल-स्वरूप मयनामती रानी से घर मे झाडूदार होने का शाप पाया । हाडिफा के पुत्र गाभूर सिद्ध (पुस्तक मे ये अचानक आते हैं) ने इस सुन्दरी को पाने के लिए हाथ-पैर कटा देने पर भी जीवन को सफल माना और बदले मे कामार्त सौतेली माँ से अपमान पाने का शाप मिला ।[1] कानफा ने मन ही मन सोचा की ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होऊँ और इसीलिए देवी ने उन्हे शाप दिया कि तुरमान देश मे डाहुका (?) होओ । पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरी माता हो तो गोद मे बैठकर स्नेह पाऊँ और दूध पीऊँ । गोरक्षनाथ परीक्षा मे खरे उतरे और वर भी पाया, पर देवी ने उनकी कठोरतर परीक्षा लेने का सकल्प किया । शापानुसार सभी तित्तत्स्थानी मे जाकर फल भोगने लगे । गोरक्षनाथ एक बार बकुल वृक्ष के नीचे बैठे समाधिस्थ हुए थे । देवी ने उन्हें नानाभाव से योगभ्रष्ट करना चाहा पर वे अन्त तक खरे उतरे । वे रास्ते मे नग्न सो गईं, गोरक्ष ने विल्व पत्र से उनका शरीर ढँक दिया, मक्खी बन कर गोरक्ष के उदर मे प्रविष्ट हो पीडा देने लगी । गोरक्ष ने श्वास रुद्ध करके उन्हें बुरी तरह छका दिया । अन्त मे देवी राक्षसी बनकर मनुष्य बलि लेने लगी । शिवजी

---

१ संभवतः चौरगीनाथ से तात्पर्य है ।

के द्वारा अनुरुद्ध होकर गोरक्ष ने देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित की। प्रवाद है कि कलकत्ते मे काली रूप से पूजी जाने वाली मूर्ति वही मूर्ति है। देवी ने प्रसन्न होकर सुन्दर स्त्रीरत्न पाने का वर देकर गोरक्ष को अनुगृहीत किया। देवी के वर की मान-रक्षा के लिए शिव ने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पति रूप मे वरण किया। गोरक्ष उसके घर मे जाकर छ. महीने के वालक वन गये और दूध पीने के लिए मचलने लगे। कन्या वडे फेर मे पडी। गोरक्ष-नाथ ने उनसे कहा कि मुझमे काम विकार तो होने से रहा पर तुम हमारा कोपीन या करपटी धोकर उसका पानी पी जाओ, तुम्हें पुत्र होगा। आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर लिया। जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कर्पटीनाथ पडा।

इसके वाद गोरक्षनाथ वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानफा ठीक उनके सिर पर मे उडते हुए आकाश मार्ग से कही जा रहे थे। छाया देखकर गोरक्ष-ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खडाऊँ फेका। खडाऊँ ने कानपा को पकड कर नीचे किया। गोरक्षनाथ के सिर पर से उडने के अविचार का फल उन्हें हाथो हाथ मिला। पर कानपा ने व्यग्य करते हुए कहा कि वडे सिद्ध वने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदली देश मे महाज्ञान भूलकर स्त्रियो के साथ वे विहार कर रहे हैं। उनकी शक्ति समाप्त हो गई। यमराज के कार्यालय मे देख कर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन वाकी हैं। वडे सिद्ध हो तो जाओ, गुरु को बचाओ। गोरखनाथ ने कहा—मुझे तो समझा रहे हो। कुछ अपने गुरु की भी खवर है तुम्हे ? मेहरकुल की महाज्ञानशीला रानी मयनामती के पुत्र गोपीचन्द ने उन्हें मिट्टी मे गडवा रखा है इस प्रकार अपने-अपने गुरु की वात जानकर दोनो सिद्ध उनके उद्धार के लिये अग्रसर हुए। पहले तो गोरखनाथ ने यमराज के कार्यालय मे जाकर गुरु की आयु-क्षीणता को ही मिटा दिया फिर उसी मौलसिरी के नीचे लौट आए और लग और महालग नामक दो शिष्यो को लेकर गुरु के उद्धार के लिए कदली वन मे प्रविष्ट हुए। वेश उन्होंने ब्राह्मण का वनाया। ब्राह्मण देखकर लोग उन्हे प्रणाम करने लगे, गोरख-नाथ को भी आशीर्वाद देना पडा। पर यह आशीर्वाद पत्राधारी ब्राह्मण का तो था नही। सिद्ध गोरखनाथ के मुँह से निकला था। फल यह होने लगा कि सब पापी-तापी दु ख मुक्त होने लगे। गोरखनाथ ने इस वेश को ठीक नही समझा। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदली देश के एक सरोवर के तट पर वकुल वृक्ष के नीचे समा-सीन हुए। उस सरोवर से एक कदली नारी आई थी। वह गोरखनाथ को देखकर मुग्ध हो गई। उसी से गोरखनाथ को पता लगा कि उनके गुरु मीननाथ सोलह सौ सेविकाओ द्वारा परिवृता मगला और कमला नामक पटरानियो के साथ विहार कर रहे हैं। वहाँ योगी का जाना निषिद्ध है। जाने पर उनको प्राणदण्ड होगा। केवल नर्तकियाँ ही मीननाथ का दर्शन पा सकती हैं। गुरु के उद्धार के लिए गोरखनाथ ने नर्तकी का रूप धारण किया पर द्वारी के मुख से इस अपूर्व सुन्दरी की रूप सम्पत्ति की

बात सुनकर रानियो ने मीननाथ के सामने उसे नही आने दिया। अन्त मे गोरखनाथ द्वार से ही मर्दल की ध्वनि की। आवाज सुनकर मीननाथ ने नर्तकी को बुलाया। मर्दल ध्वनि के साथ गोरखनाथ ने गुरु के पूर्ववर्ती बातो का स्मरण कराया और महा-ज्ञान का उपदेश दिया। सुनकर मीननाथ को चैतन्य हुआ। रानियो ने बिन्दुनाथ पुत्र को लेकर क्रदन करके मीननाथ को विचलित करना चाहा पर गोरखनाथ ने बिंदुनाथ को मृत बनाकर और बाद मे जीवित करके फिर उन्हे तत्त्वज्ञान दिया। कदली नारियो ने भी गोरखनाथ का प्राण लेने का षड्यन्त्र किया। सो गोरखनाथ ने उन्हें शाप दिया, वे चमगादड हो गई। फिर गुरु और बिंदुनाथ को लेकर गोरखनाथ अपने स्थान विजय-नगर मे लौटे।

३. लेवीनेल नेपाल

जि० १ पृ० ३०७-३५५ मे नेपाल मे प्रचलित दो कहानियो का सग्रह किया है। ग्रियर्सन ने इ० रे० ए० मे और बागची ने कौल ज्ञान निर्णय की भूमिका मे इन कहानियो का सार दिया है। यो० स० आ० मे भी यह कहानी कुछ परिवर्तित रूप मे पाई जाती है। नीचे इन तीनो कहानियो का सग्रह किया जा रहा है—

(क) नेपाल में प्रचलित बौद्धिकता—बौद्ध कथा मे मत्स्येद्रनाथ को अवलो-कितेश्वर समझा गया है। मत्स्येद्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे जिस पर चढना कठिन था। गोरक्षनाथ उनके दर्शन के लिए गये हुये थे पर पर्वत पर चढना दुष्कर समझकर उन्होने एक चाल चली। नौ नागो को बाँधकर वे बैठ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपाल मे बारह वर्ष तक वर्षा नही हुई। राजा नरेंद्रदेव के गुरु बुद्धदत्त कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले आने का सकल्प करके कपोतक पर्वत पर गये। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक मत्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जायगे। घर लौटकर बुद्धदत्त ने मत्र जप का अनुष्ठान किया। मत्र शक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर मृग बन कर कमण्डलु मे प्रविष्ट हुए। उस समय राजा नरेंद्रदेव सो रहा था। बुद्धदत्त ने लात मारकर उसे जगाया और इशारा किया कि कमण्डलु का मुख बन्द कर दे। वैसा करने पर अवलोकितेश्वर नेपाल मे ही बँधे रह गये और नेपाल मे प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान मे आज भी मत्स्येंद्रनाथ की यात्रा होती है।[1]

(ख) बुद्धपुराण नामक ग्रथ में ब्राह्मणों में प्रचलित कहानी है—महादेव ने एक बार पुत्राभिलाषिणी किसी स्त्री को खाने के लिये भभूत दी। अविश्वास होने के कारण उस स्त्री ने उसे गोबर मे फेंक दिया। बारह वर्ष के बाद जब वे उस तरफ लौटे तो उस स्त्री से बालक के बारे मे पूछा। स्त्री ने कहा कि उसने उस भभूत को गोबर

---

१ और भी देखिए . डी० राइट हिस्टरी आफ नेपाल : कैम्ब्रिज, १८७७, पृ० १४० और आगे।

मे फेंक दिया था। गोवर मे देखा गया तो वारह वर्ष का दिव्य वालक खेलता हुआ पाया गया। महादेव ही मत्स्येंद्र थे और वालक गोरक्षनाथ। मत्स्येन्द्र नाथ ने उसे शिष्य रूप मे साथ रख लिया। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गए वहाँ पर लोगो ने उनका उचित सम्मान नही किया फलतः रुष्ट होकर गोरक्षनाथ बादलो को बाँध कर बैठ गए और नेपाल मे वारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। नेपाल के सौभाग्य से मत्स्येंद्रनाथ उधर से पधारे और गुरु को समागत देखकर गोरक्षनाथ को अभ्युत्थान आदि से उनका सम्मान करना पड़ा। उठते ही बादल छूट गए और प्रचुर वर्षा हुई इसीलिए मत्स्येंद्रनाथ के उस उपकार की स्मृतिरक्षा के लिये उत्सव यात्रा प्रवर्तित हुई।

(३) 'योगि संप्रदाया विष्कृति' मे कहानी का प्रथम भाग (अध्याय ३ मे) कुछ अन्तर से नाथ दिया हुआ है। पुत्र-लाभ की कामना करने वाली सरस्वती नामक ब्राह्मणी ने जो गोदावरी गंगा के समीपवर्ती चंद्रगिरि नामक स्थान के ब्राह्मण सुराज की पत्नी थीं भभूत को फेंक नही दिया था बल्कि खा गई थी और उसी के गर्भ मे गोरक्षनाथ आविर्भूत हुए थे। कहानी का दूसरा भाग भी परिवर्तित रूप मे पाया जाता है (अध्याय ४८)। इस ग्रंथ के अनुसार नेपाल मे एक मत्स्येंद्री जाति थी जिस पर तत्कालीन राजा और राजपुरुष लोग अत्याचार कर रहे थे। यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ की पूजा करती थी। उनकी करुण कहानी सुनकर ही गोरक्षनाथ नेपाल के राजा को दंड देने के लिए तीन वर्ष तक अकाल उत्पन्न कर दिया था। राजा के गलती स्वीकार करने और मत्स्येंद्रियो पर अत्याचार न करने का आश्वासन देने के वाद गुरु गोरक्षनाथ ने कृपा की और प्रचुर वर्षा हुई। राजा ने मत्स्येंद्रनाथ के सम्मान मे शानदार यात्रा प्रवर्तित की, पर असल मे वह दिखावा भर था। अपने पुराने दुष्कृत्यो को वह दुहराता ही रहा। लाचार होकर गुरु गोरक्षनाथ ने वसन्त नामक अपने अकिंचन शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने का आदेश दिया। गुरु की कृपा से ये पुतले सैनिक बन गये। इन्ही को लेकर वसन्त ने महीद्रदेव पर चढाई की। वाद मे पराजित महीद्रदेव ने वसन्त को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार किया और इस प्रकार स० ४२० में गोरखा राज्य प्रतिष्ठित हुआ।

४. योगि संप्रदाया विष्कृति मे मत्स्येंद्रनाथ संबंधी कथाएँ

नारदजी से पार्वती को यह रहस्य मालूम हुआ कि शिवजी ने गले मे जो मुण्ड-माल धारण किया है, वह उनके ही पूर्व जन्मो के कपाल हैं, अमरकथा न जानने के कारण ही वे मरती रहती हैं और उसके जानने के कारण ही शिव अमर बने हुए हैं। पार्वती के अत्यन्त आग्रह पर शिवजी ने अमरकथा सुनाने के लिए समुद्र मे निर्जन स्थान चुना। इधर कवि नारायण मत्स्येंद्रनाथ के रूप मे एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर अवतरित हुए थे। पर गडन्त योग मे पैदा होने के कारण उस ब्राह्मण ने उन्हे समुद्र मे फेंक दिया था। एक मछली उन्हें वारह वर्ष तक उन्हें निगले रही और वे उसके पेट मे ही बढते रहे। पार्वती को सुनाई जाने वाली अमरकथा को मछली के पेट से इस

बालक ने सुना और बाद मे शिवजी द्वारा अनुगृहीत और उद्धृत होकर महासिद्ध हुआ (अध्याय २)। इस बालक ने (मत्स्येद्र ने) अपनी अपूर्व सिद्धि के बल से हनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली, वीरभद्र और चामुण्डा देवी को पराजित किया (अध्याय ५-१०) परन्तु दो बार यह गृहस्थी के चक्र मे फँस गये। प्रथम बार तो प्रयागराज के राजा के मरने से शोकाकुल जनसमूह को देखकर गोरक्षनाथ ने ही उनसे राजा के मृत शरीर मे प्रवेश करके लोगो को सुखी करने का अनुरोध किया और मत्स्येंद्रनाथ ने अपने मृत शरीर की बारह वर्ष तक रक्षा करने की अवधि दे कर राजा के शरीर मे प्रवेश किया। बारह वर्ष तक वे सानद गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। किसी प्रकार रानियो को रहस्य मालूम हो गया और उन्होने मत्स्यद्रनाथ के मृत शरीर को नष्ट कर देना चाहा। पर वीरभद्र उस शरीर को ले गए और वह नष्ट होने से बच गया। अपने पुराने बैर के कारण वीरभद्र उस शरीर को लौटाना नही चाहते थे, परन्तु गोरक्षनाथ की अद्भुत शक्ति के सामने उन्हे झुकना पडा और मत्स्येद्रनाथ को फिर अपना शरीर प्राप्त हुआ। इसी समय मत्स्येद्रनाथ के माणिकनाथ नामक पुत्र उत्पन्न हुए जो बाद मे चलकर बहुत बडे सिद्ध योगी हुए। एक दूसरी बार त्रियादेश (अर्थात् सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण-क्षीण पति से असन्तुष्ट हो कर अन्य योग्य पुरुष की कामना करती हुई हनुमान जी की कृपा प्राप्त की। हनुमान जी ने स्वय गृहस्थी के बधन मे बधना अस्वीकार किया, पर मत्स्येद्रनाथ को ले आ दिया। रानियों ने राज्य मे योगियो का आना निषेध कर दिया था। गोरक्षनाथ गुरु का उद्धार करने आये तो हनुमानजी ने बाधा दी। व्यर्थ का झगडा मोल न लेकर गोरखनाथ ने बालक-वेश बना राज्य मे प्रवेश किया। उसी समय कलिगा नामक अपूर्व नृत्य-चतुरा वेश्या मत्स्येंद्रनाथ के अन्त पुर मे नाचने जा रही थी। गोरक्षनाथ ने साथ चलना चाहा और स्त्रीवेश बनाने और तबला बजाने मे अपनी निपुणता का परिचय देकर उसे साथ ले चलने को राजी किया। रात को अन्त-पुर मे कलिगा का मनोहर नृत्य हुआ और मत्स्येद्रनाथ मुग्ध हो रहे। गोरक्षनाथ ने मत्र-बल से तबलची के पेट मे पीडा उत्पन्न कर दी और इस प्रकार कलिगा ने निरुपाय होकर उनसे तबला बजाने का अनुरोध किया। अवसर देखकर गोरखनाथ ने तबले पर 'जागो गोरखनाथ आ गया' की ध्वनि की और गुरु को चैतन्य-लाभ कराया। रानी ने बहुत प्रकार से गोरक्षनाथ को वश करना चाहा और मत्स्येंद्रनाथ भी वह सुख छोडकर अन्यत्र जाने मे बहुत पशोपेश करते रहे पर अन्त तक गोरक्षनाथ उन्हें क्षणभगुर विषय-सुख से विरक्त करने मे सफल हुए। इसी समय मत्स्यद्रनाथ के दो पुत्र हुए थे—परशुराम और मनीराम, जो आगे चलकर बडे सिद्ध हुए। (अध्याय २३) यह कथा सुधाकर चद्रिका (पृ० २४०) मे सक्षिप्त रूप मे दी हुई है। इसके अनुसार गोरखनाथ ने तबले से यह ध्वनि निकाली थी 'जाग मछदर गोरख आया।'

५. नाथचरित्र की कथा

प० विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने सरदर म्यूजियम, जोधपुर से सन् १९३७ ई०

मे 'नाथ चरित्र' 'नाथ पुराण' और 'मेघमाला' नामक पुस्तको से और उनके आधार पर बने हुए चित्रो से नाथ-परपरा की कुछ कथाएँ संगृहीत की हैं। 'नाथचरित्र' नामक ग्रथ आज से लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पहले महाराजा मानसिह के समय मे सग्रह किया गया था, जो किसी कारण-वश पूरा नही हो सका। इस पुस्तक पर महाराजा मानसिह की एक सस्कृत टीका भी प्राप्त हुई है। प्रथम दो पुस्तक मारवाडी भाषा मे हैं और अन्तिम (मेघमाला) सस्कृत मे। इस सग्रह से मत्स्येंद्रनाथ सवधी दो कथाएँ उद्धृत की जा रही हैं।

(१) एक वार मत्स्येन्द्रनाथ ससार पर्यटन को निकले। मार्ग मे जिस समय वह एक नगर मे पहुँचे, उस ममय वहाँ के राजा का स्वर्गवास हो गया और उसके नौकर उसके शरीर को वैकुठी मे रखकर जलाने को ले चले। इस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार अपने साथ के शिष्यो को सौंप कर 'परकाय प्रवेश' विद्या के वल से उस राजा के शरीर मे प्रवेश किया। इससे वह राजा जी उठा और उसके साथ वाले सव हर्ष मनाने लगे। इस प्रकार राज-शरीर मे रहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने वहुत समय तक भोग-विलास का आनन्द लिया। इसी बीच एक पर्व के अवसर पर हरद्वार मे योगी लोग इकट्टे हुए। वहाँ पर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ और कनीपाव के वीच विवाद हो गया और कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के भोग विलास मे फँसे रहने का ताना दिया। यह सुन गोरक्ष राजा के शरीर मे स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास गए और उन्हे समझा कर वहाँ से चलने को तैयार किया। यह हाल जान रानी परिमला, जो विमलादेवी का अवतार थी, वहुत चिन्तित हुई। इस पर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त मे मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि-प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल वाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप मे जन्म लिया। उसके बडे होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन मे उसके साथ विहार करने लगे। देवताओ और सिद्धो ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथजी ने पहुँच कर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(२) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश मे जाकर तप करने लगे। परन्तु जव वहाँ का राजा मर गया, तव उन्होने मृत राजा के शरीर मे प्रवेश कर उसकी मगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार उन्होंने उस राजा की अन्य रानियो के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ काल वाद मगला आदि रानियों ने मत्स्येंद्र को पहचान लिया। अन्त मे गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येंद्र और उनके दोनो पुत्रो को लेकर वहाँ से चल दिए। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण-और रत्नादि मे फँसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल का छीटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वगैरह तोड कर फेक दिए। इसके वाद गोरक्ष-

नाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण शिखर को स्फटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिये उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनो पुत्रो को पास के एक नगर मे भिक्षा माग लाने के लिये भेजा। उनमे से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिए उत्तम भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे को श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गए, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयो पर वार्तालाप होता रहा।

निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येद्रनाथ विषयक समस्त कहानियो के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येद्रनाथ और जालधरनाथ समसामयिक थे। दूसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येद्रनाथ कभी योग-मार्ग के प्रवर्तक थे फिर सयोगवश एक ऐसे आचार मे सम्मिलित हो गए थे जिसमे स्त्रियो के साथ अबाध ससर्ग मुख्य बात थी—सभवत. यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालधरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धो के समय का पता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिये कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक एक कर के हम उन पर विचार करें।

(१) सबसे प्रथम तो मत्स्येद्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञान निर्णय' ग्रन्थ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ग्यारहवी शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

(२) हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' मे मच्छद विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छन्द विभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की वृहतीवृत्ति' सन् १०१५ ई० मे लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ९९१ ई० मे की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त मे और ग्यारहवी शताब्दी के आदि मे वर्तमान थे।[1] मत्स्येन्द्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

(३) पडित राहुल साकृत्यायन ने 'गगा के पुरातत्त्वाक' मे ८४ वज्रयानी सिद्धो की सूची प्रकाशित कराई है। इसके देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक

---

१. एम० के० दे, सस्कृत पोएटिक्स . जिल्द १, पृ० १०५।

सिद्ध जिन्हे तिब्बती परम्परा मे मत्स्येंद्रनाथ का पिता कहा गया है, पर जो वस्तुत. मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न है, राजा देवपाल के राज्य-काल मे हुए थे। राजा देवपाल ८०९-४९ ई० तक राज्य करते रहे ('चतुराशीति सिद्ध प्रवृत्ति', तनजूर ८६।१। कार्डियर पृ० २४७) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवी शताब्दी के मध्य भाग मे और अधिक से अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

(४) गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द्र का सम्बन्ध जालधरपाद से बताया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालधरपाद की तीसरी पुश्त मे पड़ते हैं। इधर तिरुमलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेंद्रचोल ने माणिकचद्र के पुत्र गोविन्दचद्र को पराजित किया था। बगला मे 'गोविन्दचन्द्रेर गान' नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है उसके अनुसार भी गोविन्दचद्र का किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध वर्णित है। राजेन्द्र चोल का समय १०६३ ई०—१११२ ई० है।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि गोविन्दचद्र ग्यारहवी शताब्दी के मध्य-भाग मे वर्तमान थे। यदि जालधरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हो तो भी उनका समय दसवी शताब्दी के मध्य भाग मे निश्चित होता है। मत्स्येद्रनाथ का समय और भी पहले निश्चित हो चुका है। जालधरपाद उनके समसामयिक थे इस प्रकार उनकी कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूर्ववर्ती प्रमाणो की अच्छी सगति नही बैठती।

(५) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा ने स्वय अपने गानो मे जालधरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे।[2] इस प्रकार जालधरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

(६) कन्थडी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का सबध बताया जाता है। प्रबध चिन्तामणि मे एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमदिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य-नियत वदनपूजन से सन्तुष्ट हो।र अणहिल्लपुर मे अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरुपप्रासाद नामक मदिर बनवाया। उसका प्रबधक होने के लिये राजा ने कथडी नामक शैवसिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कथा मे सक्रमित कर दिया। कथा काँपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कथा मे ज्वर सक्रमित कर दिया है। बडे छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मदिर का प्रबधक बनवाया।[3] कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपथी योगी के हैं। इस-लिये यह कथडी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होगे। 'प्रबध चिन्तामणि' की सभी प्रतियो में लिखा है कि मूलराज ने सवत् ९९३ की आषाढी पूर्णिमा को राज्य-

---

१ दीनेशचद्र सेन · वगभाषा ओ साहित्य।

२ गगापुरातत्वाक · पृ० २५४।

३ प्र० चि० पृ० २२-२३।

भार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति मे ८९८ सवत् हैं।[1] इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणो से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल-निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्राय दन्तकथाओ और साम्प्रदायिक परपराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओ से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियो का काल वहुत समय जाना हुआ रहता है। वहुत से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। व्रिग्स ने इन दन्तकथाओ पर आधारित काल को चार मोटे विभागो मे इस प्रकार वाँट लिया है :—

(१) कवीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का सवाद हुआ था, इस पर दन्तकथाएँ भी हैं और पुस्तके भी लिखी गई हैं। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा कि वहुत से पडितो ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य मे होगा। (२) गूगा की कहानी, पश्चिमी नाथो की अनुश्रुतियाँ, वगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का सप्रदाय दक्षिण के पुरातत्त्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परपरा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल १२०० ई० के उधर ही जाता है। तेरहवी शताब्दी मे गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक मवूत है। इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ १२०० ई० के पहले हुए थे। इस काल के कम से कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए (३) नेपाल के शैव वौद्ध परपरा के नरेंद्रदेव, उदयपुर के वाप्पा रावल, उत्तर-पश्चिम के रसालू और होदी, नेपाल के पूर्व मे शकराचार्य से भेंट आदि पर आधारित काल ८वी शताब्दी से लेकर नवी शताब्दी तक के काल का निर्देश करते हैं। (४) कुछ परपराएँ इससे भी पूर्ववर्ती तिथि की ओर सकेत करती हैं। व्रिग्स दूसरे नवर के प्रमाणो पर आधारित काल को उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय नही है। जव तक और कोई प्रमाण नही मिल जाता तव तक वे गोरक्षनाथ के विषय मे इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, सभवत ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ मे, पूर्वी वगाल मे प्रादुर्भूत हुए थे।[2] परन्तु सव मिलाकर वे निश्चित रूप से जोर देकर कुछ नही कहते और जो काल वताते हैं उसे क्यो अन्य प्रमाणो से अधिक युक्तिसगत माना जाय, यह भी नहीं वताते। हम आगे 'सप्रदाय भेद' नामक अध्याय मे तिथि की इस वहुरूपता के कारण का अनुसधान करेंगे।

हमे ऊपर के प्रमाणो के आधार पर नाथमार्ग के आदि प्रवर्तको का समय नवीं शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पडता है। इस मार्ग मे इसके पूर्ववर्ती सिद्ध भी

---

१ वही, पृ० २०।

२ व्रिग्स, पृ० २४३-४४।

वाद मे चल कर अन्तर्भक्त हुए हैं और इसलिये गोरक्षनाथ के सबध मे ऐसी दर्जनो दन्त-कथाएँ चल पडी हैं, जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि सबधी झमेला खडा हो जाता है। आगे हम इसकी युक्ति-संगत सगति वैठा सकेंगे।

मत्स्येद्रनाथजी जिस कदली देश या स्त्रीदेश मे नये आचार मे जा फँसे थे, वह कहाँ हैं? 'मीनचेतन' और 'गोरक्षविजय' मे उसका नाम कदली देश वताया गया है और 'योगिसप्रदायाविष्कृति' मे 'त्रियादेश' अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया है। सिंहल देश ग्रथकार की व्याख्या है। भारतवर्ष मे स्त्रीदेश नामक एक स्त्रीप्रधान देश की ख्याति वहुत पुराने जमाने से है। नाना स्थानो के रूप मे इसे पहचानने की कोशिश की गई है। हिमालय के पार्वत्य अचल मे व्रह्मपुर के उत्तरी प्रदेश को जो वर्तमान गढवाल और कुमायूं के अन्तर्गत पडता है, पुराना स्त्रीराज्य वताया गया है। सातवी शताब्दी मे इसे 'सुर्वण-गोत्र' कहते थे (विक्रमाक चरित १८५७, गरुड पुराण ५५ अ०)। कहते हैं इस देश की रानी प्रमीला ने अर्जुन से साथ युद्ध किया था[1] (जैमिनि भारत अ० २२)। कभी-कभी कुलूत देश (कुल्लू) को भी स्त्रीदेश कहा गया है। हुएन्तसग ने सतलज के उद्‌गम-स्थान के पास किसी स्त्री-राज्य का सधान पाया था। आटकिन्सन के 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', से भी यह तथ्य प्रमाणित हुआ है। किसी-किसी पडित ने कामरूप को ही स्त्रीदेश कहा है। शोरग ने 'वेस्टर्न टिवेट' नामक पुस्तक में (पृ० ३३८) तिव्वत के पूर्वी छोर पर वसे किसी स्त्रीराज्य का जिक्र किया है, जहाँ की जनता वरावर किसी स्त्री को ही अपनी शासिका चुनती है।[2] यह लक्ष्य करने की वात है कि 'गोरक्ष विजय' मे स्त्रीदेश न कह कर कदली देश कहा गया है। 'महाभारत' मे कदली-वन की चर्चा है (वन पर्व १४६ अ०)। कहते हैं कि इस कदली देश में अश्वत्थामा, वलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, और परशुराम ये सात चिरजीवी सदा निवास करते हैं। हनुमान जी ने भीमसेन जी से कहा था कि इसके वाद दुरारोह पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते हैं। मनुष्य की गति वहाँ नही है (वनपर्व १४६, ६२-६३)। प० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर हृषीकेश वदरिकाश्रम और उसके उत्तर के हिमालय प्रान्त सव कजरीवन (कदली वन) कहे जाते हैं।[3] 'पदमावत मे लिखा है कि गोपीचद जोगी होकर कजरीवन (कदली वन) मे चले गये थे।[4] इन सव वातो से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाद देश मे अवस्थित कुमायू गढवाल के अन्दर पडने वाला प्रदेश है। 'योगि सप्रदाया-

---

१. नदलाल दे · जिओग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १८४।

२. जिओग्राफिकल डिक्शनरी पृ० १८४।

३. सु० च०, पृ० २५२-३।

४ जउ भल होत राज अउ भोगू। गोपीचद नहिं साघत जोगू॥
उहउ सिसिर जउ देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा॥
—जोगी खड पृ० २८४।

विष्कृति' मे जिस परम्परा का उल्लेख है उसमे भी हनुमान का नाम आता है। हनुमान जी कददलीवन मे ही रहते हैं, इसलिये इसी कदलीवन को वहाँ गलती से सिंहल-दीप समझ लिया गया है। परन्तु त्रियादेश कह कर सदेह का अवकाश नही रहने दिया गया है। एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। 'कामसूत्र की जयमगला टीका' मे लिखा है कि वज्रावतस देश के पश्चिम मे स्त्री राज्य है। प० तनसुखराम ने 'नगरसर्वस्व' नामक बौद्ध कामशास्त्रीय ग्रन्थ की टिप्पणी मे लिखा है कि यह स्थान भूतस्थान अर्थात् भोटान के पास कही है।[१] इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश आसाम के उत्तरी इलाके मे है। 'तन्त्रालोक की टीका' और 'कौल ज्ञान निर्णय' से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप मे ही कौल साधना की थी। इस लिये कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुत कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुलूत, सुवर्ण गोत्र, भूतस्थान, कामरूप मे भिन्न-भिन्न ग्रथकारो के स्त्रीराज्य का पता वताना यह सावित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य-अचल मे पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियो की प्रधानता थी। अव भी यह वात उत्तर भारत की तुलना मे, वहुत दूर तक ठीक है।

इन सारे वक्तव्यो का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येंद्रनाथ चद्रगिरि नामक स्थान मे पैदा हुए थे जो कामरूप से वहुत दूर नही था और या तो वगाल के समुद्री किनारे पर कही था, या जैसा कि तिब्वती परम्परा से स्पष्ट है, व्रह्मपुत्र से घिरे हुए किसी द्वीपाकार भूमि पर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्ष मे कामरूप के पास कही था। इनका प्रादुर्भाव नवी शताब्दी मे किसी समय हुआ था। शुरू शुरू मे वह एक प्रकार की साधना का व्रत ले चुके थे, परन्तु वाद मे किसी ऐसे आचार मे जा फँसे थे जिसमे स्त्रियो का साहचर्य प्रधान था और यह आचार व्रह्मचर्य-मय जीवन का परिपथी था। वे जिस स्थान मे इस प्रकार के नये आचार मे व्रती हुए थे वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजाल से उनका उद्धार उन्ही के प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ ने किया और एक वार वे फिर अपने पुराने मार्ग पर आ गए। अव विचारणीय यह है कि मत्स्येंद्रनाथ का मत क्या था और क्या उस मत की जानकारी से हमे ऊपर की दन्तकथाओ को समझने मे मदद मिलती है ? आगे के अध्याय मे हम इसी वात को समझने का प्रयत्न करेंगे।

५

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान

१. कौलज्ञान निर्णय

'कौलज्ञान निर्णय' के अनुसार मत्स्येद्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं। 'तंत्रालोक-की टीका' (पृ० २४) मे उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है। कुल-शास्त्र और कौल ज्ञान वस्तुत. समानार्थक शब्द है। परन्तु 'कौलज्ञान निर्णय' मे ही ऐसे अनेक प्रमाण है, जिनसे मालूम होता है कि यह कौलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (६-८) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था (१४-८) ग्रन्थ मे कई कौल-संप्रदायो की चर्चा भी है। चौदहवें पटल मे रोमकूपादि कौल (१४-३२) वृषणोत्य कौलिक (१४-३३), वह्निकौल (१४-३४) कौल सद्भाव (१४-३७) और पदोत्तिष्ठ कौल शब्द आए हैं। विद्वानो ने इनका सम्प्रदायपरक तात्पर्य बताया है।[१] परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द संप्रदायपरक न हो कर 'सिद्धिपरक' हैं। यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवी की उक्ति के रूप मे नही है, बल्कि-भैरव के उत्तर के रूप मे है, क्योकि इसमे देवी को सबोधन किया गया है। उत्तर देने के ढग से लगता है कि भैरव (= शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे हैं, जिसमे मत्र, प्राणायाम और चक्रध्यान की जरूरत नही होती और फिर भी वह परम सिद्धिदायक होता है।[२] इस पटल की पुष्पिका से भी पता चलता है कि यह ध्यान-योग मुद्रा का प्रकरण है। इसीलिये मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पडते हैं। ये सम्प्रदायवाचक नहीं हैं। परन्तु सोलहवें पटल मे लिखा है :—

> भक्तियुक्ता· समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम् ॥४६॥
> महाकौलात् सिद्धकौल सिद्धकौलात् मसादरम् (?)
> चतुर्यगविभागेन अवतार चोदित मया ॥४७॥

---

१. बागची : कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका पृ० ३३-३५, शुद्धिपत्र मे रोमकूपादि कौलिक को छोड देने को कहा गया है।

२ उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३८।

ज्ञानादौ निर्णितिः कौलं द्वितीये महत्संज्ञकम् ।
तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥४८॥
ये चास्मान्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽधुनम् ।
एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितो ॥४९॥

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि आदि युग में जो कौलज्ञान था वह द्वितीय अर्थात् त्रेता युग में 'महत्कौल' नाम से परिचित हुआ, तृतीय अर्थात् द्वापर में 'सिद्धामृत' नाम से और इस कलिकाल में 'मत्स्योदर कौल' नाम से प्रकट हुआ है। प्रसंग से ऐसा लगता है कि ४७वें श्लोक में पाचवीं विभक्ति का प्रयोग 'अनन्तर' अर्थ में हुआ है। इस श्लोक का 'समादरम्' पद शायद 'मत्स्योदरम्' का भ्रष्ट रूप है और ४६वें श्लोक के शृण्वन्तु क्रिया का कर्म है। संक्षेप में इन श्लोकों का अर्थ यह हुआ कि भक्ति-युक्त होकर सब लोग उस तत्त्व को सावधानता से सुनें (जिसे भैरव ने अब तक सिर्फ पार्वती और षडानन आदि को ही सुनाया है) — महत्कौल के बाद सिद्धकौल और सिद्ध कौल के बाद मत्स्योदर का अवतार हुआ। इस प्रकार चार युगों में शिव ने चार अवतार धारण किए। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम था 'कौलज्ञान', द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल', तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धामृत' और चतुर्थ-युग में अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। इनसे (=मत्स्योदर) विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है।

इसी प्रकार इक्कीसवें पटल में अनेक कौल-मार्गों का उल्लेख है। इन श्लोकों पर से डॉ० बागची अनुमान करते हैं कि मत्स्येंद्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्ती थे और उन्होंने योगिनीकौल मार्ग का प्रवर्तन किया था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाथपंथी लोग अपने को सिद्धमार्ग का अनुयायी कहते हैं और परवर्ती साहित्य में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नाथपंथी साधुओं के लिये हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वापर युग का सिद्धमार्ग उस श्रेणी का नहीं था जिसे बाद में मत्स्येंद्रनाथ ने अपने कौलज्ञान के रूप में अवतारित किया। दन्तकथाओं से यह स्पष्ट है कि मत्स्येंद्रनाथ अपना असली मत छोड़कर कदली देश की स्त्रियों की माया में फँस गए थे। ये कदली-स्त्रियाँ योगिनी थीं, यह बात 'गोरक्ष विजय' आदि ग्रंथों से स्पष्ट है। 'कौलज्ञान निर्णय' से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जिस साधनमार्ग-परक शास्त्र की चर्चा इस ग्रंथ में हो रही है वह शास्त्र कामरूप की योगिनियों के घर-घर में विद्यमान था और मत्स्येंद्रनाथ उसी कामरूपी स्त्रियों के घर से अनायासलब्ध शास्त्र का सार संकलन कर सके थे।[1] तन्त्रालोक की टीका के जो श्लोक हमने पहले उद्धृत किए हैं, उनसे भी पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। कामरूप की योगिनियों के मायाजाल से गोरक्षनाथ ने मत्स्येंद्रनाथ का उद्धार किया था, यह भी दन्तकथाओं

---

१ तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतं ।
कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे ॥२२।१०।

से स्पष्ट है। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति' में एक प्रसंग इस प्रकार का भी है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[1] बाद में क्या हुआ, इस विषय में उक्त ग्रंथ मौन है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से यह अनुमान पुष्ट होता है कि मत्स्येंद्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहीं से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।

ध्यान देने की बात यह है कि 'कुल' शब्द का प्रयोग भारतीय साधना-साहित्य में बहुत हुआ है, परन्तु सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के पहले इस प्रकार के अर्थ में कदाचित् ही हुआ है। बौद्ध तान्त्रिकों में संभवतः डोम्बी हेरुक ने ही इस शब्द का प्रयोग इससे मिलते-जुलते अर्थ में किया है। साधनमाला में एक साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि कुल-सेवा से ही सर्व-काम-प्रदायिनी शुभ सिद्धि प्राप्त होती है।[2] इस शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धों से पाँच कुलों की उत्पत्ति हुई है। अक्षोभ्य से वज्र कुल, अमिताभ से पद्म कुल, रत्नसंभव से भाव-रत्न-कुल, वैरोचन से चक्र कुल और अमोघसिद्धि से कर्म-कुल उत्पन्न हुए थे।[3] प्रो० विनयतोष भट्टाचार्य ने डोम्बी हेरुक का काल सन् ७७० ई० माना है। 'कौलज्ञान निर्णय' में इस प्रकार की कुलकल्पना का कोई आभास नहीं मिलता। परन्तु इतना जरूर लगता है कि शुरू शुरू में वे सिद्ध मार्ग या सिद्धकौल मार्ग के उपासक थे। कौलज्ञान उनके परवर्ती, और संभवतः मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान है।

प्रश्न यह है कि वह सिद्धमत क्या था जिसके अनुयायी मत्स्येंद्रनाथ थे और जिसे छोड़कर उन्होंने अन्य मार्ग का अवलंबन किया था? दन्तकथाओं से अनुमान होता है कि वह मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रतिद्वन्दिनी थी और उसमें स्त्रीसंग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।

'कौलज्ञान निर्णय' में निम्नलिखित विषयों का विस्तार है—सृष्टि, प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण-स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्तिनिरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरामरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि

---

१. यो० स० आ० ४९ अध्याय।

२. कुलसेवात् भवेत् सिद्धि. सर्वकाम प्रदा शुभा।

३. अक्षोभ्यवज्रमित्युक्त अमिताभ पद्ममेव च।
रत्नसंभवो भावरत्न वैरोचनस्तथागत.॥
अमोघ. कर्ममित्युक्त कुलान्येतानि संक्षिपेत्।

४ साधनमाला, प्रस्तावना, पृ० ४०-४१।

गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पात्रचर्या, न्यासविधि शीघ्र सिद्धि देनेवाली ध्यानमुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्ष्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप विज्ञान, देहस्थ चक्र-स्थिता देवियाँ, कपाल भेद, कौलमार्ग का विस्तार योगिनी सचार और देहस्थ सिद्धो की पूजा।

इन विषयो पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि कौलज्ञान सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र मे अद्वैत भाव की चर्चा , पर मुख्यत: यह उन अधिकारियो के लिये लिखा गया है जो कुल और अकुल—शक्ति और शिव—के भेद को भूल नहीं सके हैं। इसके विपरीत 'अकुलवीर तन्त्र' का अधिकार वह है जिसे अद्वैत ज्ञान हो गया है और जो अच्छी तरह समझ चुका है कि कुल और अकुल मे कोई भेद नहीं है, शक्ति और शिव अविच्छिन्नभाव से विराज रहे हैं। यद्यपि कौलज्ञान निर्णय हृदय स्थित अनेक पद्म-चक्रो की चर्चा करता है, पर यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कुण्डली' शब्द भी उसमे नही आया है। कुण्डलीयोग या कुण्डलिनीयोग परवर्ती नाथपंथियो की सर्वमान्य साधना है। फिर 'समरस' या 'सामरस्य' की भी कोई चर्चा नही है। केवल 'अकुल-वीर तन्त्र' मे ये दोनो शब्द आते हैं। वहाँ कुण्डली और सहज, ये दोनो योग कौल मार्ग मे विहित हैं, ऐसा स्पष्ट लिखा है। 'कुण्डली' कृत्रित (कृतक) अर्थात् दुरूह साधना से प्राप्त योग है और सहज, समरस मे स्थिति-वश प्राप्य योग है (अकुलवीर तन्त्र, बी० ४३) कुण्डली योग मे द्वैतभाव (प्रेय-प्रेरकभाव) बना रहता है और सहज मे वह लुप्त हो गया होता है (४४)। 'कौलावली निर्णय' मे इसी प्रेय-प्रेरक भाव के मध्यम अधिकारी के लिये चक्रध्यान की साधना विहित है, पर 'अकुलवीरतन्त्र' मे उस सहज-साधना की चर्चा है जो प्रेय-प्रेरक रूप द्वैत भावना के अतीत है। इसमें ध्यान-धारणा-प्राणायाम की जरूरत नही, (अ० वी० तन्त्र—बी० ११२), इडा-पिंगला और चक्रध्यान अनावश्यक हैं (१२३-१२८)। यह सहज समर सानद का प्रदाता अकुल-वीर मार्ग है—कौलमार्ग की समस्त विधियाँ यहाँ अनावश्यक हैं। इस तन्त्र का स्वर 'गोरक्षसहिता' से पूरी तरह मिलता है। क्या 'कौलज्ञाननिर्णय' मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिनीकौल का द्योतक है और 'अकुलवीर तन्त्र' उनके पूर्व परित्यक्त और बाद मे स्वीकृत सिद्ध मत का ? दोनो को मिलाने पर यह धारणा दृढ़ ही होती है।

फिर यह भी प्रश्न होता है कि बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धो से इस मत का क्या सबध था। डा० बागची ने 'कौलज्ञान निर्णय' की भूमिका मे बताया है कि बौद्ध सिद्धो की कई बातो से 'कौलज्ञान निर्णय' की कई बाते मिलती हैं। (१) सहज पर जोर देना, (२) बाह्याचार का विरोध, (३) कुलक्षेत्र और पीठो की चर्चा, (४) वज्रीकरण का प्रयोग, (५) पचपवित्र आदि बौद्ध पारिभाषिक शब्द सूचित करते है कि इस साधना का सम्बन्ध बौद्ध साधना से था अवश्य। इस बात मे तो कोई सन्देह ही नही कि जिन दिनो मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था उन दिनो बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रो मे बहुत-सी बातें मिलती-जुलती रही होगी। एक दूसरे पर प्रभाव भी जरूर

पडता रहता होगा। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ तिब्बती परपरा मे भी वहुत वडे सिद्ध माने जाते हैं और नेपाल के बौद्ध तो उन्हे अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते हैं। इसलिये उनकी प्रवर्तित साधना मे ऐसी कोई बात जरूर रही होगी जिसे लोग विशुद्ध बौद्ध समझ सकते। ऊपर की पाँच बाते बौद्ध तत्रो मे भूरिश. आती हैं, पर ब्राह्मण तत्रो मे भी उन्हें खोज निकालना कठिन नही है। यह कह सकना बहुत कठिन है कि जिन तत्रो मे या उपनिषदो मे ये शब्द आए हैं वे बौद्ध तन्त्रो के बाद के ही हैं। कई ग्रथ नये भी हैं और कई पुराने भी। इन विषयो की जो चर्चा हुई है वह इतनी अपर्याप्त है कि उस पर मे कुछ निश्चयपूर्वक कहना साहसमात्र है। परन्तु नाथ-परम्परा की सभी पुस्तको के अध्ययन से ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्ध मार्ग मुख्य रूप से योगपरक था और पच मकारो या पचपवित्रो की व्याख्या उसमे सदा रूपक के रूप से ही हुआ करती थी। यह उल्लेख योग्य बात है कि 'कौलज्ञान निर्णय' मे जो परपरा बताई गई है वहाँ शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारो का उल्लेख तो है पर कहीं भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नही है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमे पता नही है। इसके विरुद्ध सहज यानी सिद्धो की पोथियो मे बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कही भी कौल नही कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नही। अकुलवीर तत्र मे बौद्धो को स्पष्ट रूप मे मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र बताया गया है।[१]

२. कुल और अकुल

कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए। कौल लोगो के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सबध स्थापना ही 'कौल' मार्ग है।[२] इसलिए कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (=सम-

---

१. सवादयन्ति ये केचिन्न्यायवैशेपिकास्तथा।
बौद्धास्तु अरहन्ता ये सोमसिद्धान्तवादिन ॥७॥
मीमासा पचस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणा·।
इतिहासपुराण च भूततत्त्व तु गारुडम् ॥८॥
एभि. शैवागमै. सर्वैः परोक्ष च कियान्वितै·।
सविकल्पसिद्धिसचार तत्सर्वं पापबधवित् ॥९॥
विकल्प बहुला सर्वे मिथ्यावादा निरर्थका.।
न ते मुञ्चन्ति ससारे अकुलवीरविवर्जिता ॥१०॥—अकुल वीरतत्र—ए०

२ कुल शक्तिरितिप्रोक्तमकुल शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सबध कौलमित्यभिधीयते ॥—सौभाग्य भास्कर, पृ० ५३।

रस होना) ही कौलज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी अनेक अर्थ किये गए हैं, परन्तु यही मुख्य अर्थ है। शिव का नाम अकुल होना उचित ही है क्योकि उनका कोई कुल-गोत्र नही है, आदि अन्त नही है।[१] शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, शक्ति शिव की प्रिया है। परन्तु शिव और शक्ति मे कोई भेद नही है। चन्द्रमा और चन्द्रिका का जो सबध है वही शिव और शक्ति का सबध है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-सग्रह' के चतुर्थ उपदेश मे कहा गया है कि शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्महीन और निरग हैं, इसलिए उन्हे 'अकुल' कहा जाता है।[२] चूंकि शक्ति सृष्टि का हेतु है और (समस्त जगत रूपी प्रपच की प्रवर्तिका है इसलिए उसे 'कुल' (=वश) कहते हैं।[३] शक्ति के विना शिव कुछ भी करने मे असमर्थ हैं।[४] इकार शक्ति का वाचक है और शिव मे से इकार निकाल देने से वह 'शव' हो जाता है,[५] इसीलिये शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्मसाधना से मूलत भिन्न है। इस साधना के लक्ष्य हैं अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता मे विश्वास नहीं रखते। 'कौल ज्ञान निर्णय' मे भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है।[६] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के विना छाया नही रह सकती, अग्नि के विना धूप नही रह सकती उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के विना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती।[७]

---

१ शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिव.।
अन्तर नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
—गो० सि० स० मे उद्धृत, पृ० ६७।

२ कर्णगोत्रादिराहित्यादेक एवाकुल मतम्।
अनन्त्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात्
निर्धर्मत्वादनगत्वदकुल स्यान्निरन्तरम्।—सि० सि० स० ४।१०-११।

३ कुलस्य सामरस्येति सृष्टि- हेतु. प्रकाशभू'।
सा चापरपरा शक्तिराज्ञेशस्यापर कुलम्।
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जगद्रुपप्रवर्तनात् ॥—जि० सि० स० ४।१२-१३।

४. शिवोऽपिशक्ति रहित. कर्तुं शक्तो न किंचन।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद् भासको भवेत् ॥ वही० ४।२६।

५ शिवोऽपिशवता याति कुण्डलिन्या विवर्जित.। —देवी भागवत का वचन

६. अकुलतु इम भद्रे यत्राह तिष्ठते सदा। कौ० ज्ञा० नि० १६-४१।

७ न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्य च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुमः ॥ १७८-९।

कौल मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन 'कौलोपनिषद्' में दिया हुआ है। इस उपनिषद् के पढ़ने से इस मत के साधकों का अडिग विश्वास और रूढि विरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद से इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सूत्र रूप मे लिखी गई है। आरम्भ मे कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होती है। ज्ञान और बुद्धि ये दोनो ही धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं। जिनमे एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; और मोक्ष वस्तुत सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात् समस्त जागतिक प्रपचो के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपच से तात्पर्य पाच विषयो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से है। इन पाच विषयो को जानने वाला प्राण-विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोनो ज्ञान हैं, अधर्म का कारण अज्ञान है, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नही है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नही है फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मारोप के साथ देखता है, यह अविद्या भी ज्ञान (अर्थात् ब्रह्म की शक्ति) ही है। प्रपच ही ईश्वर है और अनित्य भी नित्य है क्योंकि वह भी ब्रह्मशक्ति का रूप ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है (इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति मे कोई भेद नही है) यही मुक्ति है। जीव के पाँच बधन हैं—(१) अनात्मा मे आत्म बुद्धि (२) आत्मा मे अनात्म बुद्धि, (३) जीवो में परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और आत्मा (अर्थात् उपासक) मे भेद बुद्धि, और (५) चैतन्य अर्थात् परब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि ये पांचो बन्धन भी ज्ञानरूप ही हैं क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्ही बधो के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्रो मे पडता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है :—समस्त इन्द्रियो मे नयन प्रधान है, नयन अर्थात् आत्मा। (धर्मविरुद्ध कार्य करणीय है, धर्म विहित करणीय नही है (यहाँ धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि-निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है) सब कुछ शाभवी (शाक्त) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिये वेद मान्य नही है गुरु एक ही होता है और अन्त मे सर्वैक्यता बुद्धि प्राप्त होती है। मत्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिए, उपासना-पद्धति को प्रकट नही करना चाहिये। अन्याय ही न्याय है। किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिये। अपना रहस्य शिष्य-भिन्न किसी को नही बताना चाहिए। भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक मे वैष्णव होकर रहना—यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोक-निंदा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है—व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे, नियम मोक्ष का बाधक है, कभी कौल संप्रदाय की स्थापना नही करनी चाहिए। सब मे समता की बुद्धि रखनी चाहिए, ऐसा करने वाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।)

सक्षेप मे 'कौलोपनिषद्' का यही मर्म है। इसमे स्पष्टतः ही ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो अपरिचित श्रोता के चित्त को झकझोर देती हैं। थोडी और चर्चा करके

उसका रहस्य समझ लेना चाहिए क्योकि नाथ सप्रदाय की साधना को इन बातों ने प्रभावित किया है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' के उत्तरखड मे एक स्तोत्र है 'ललितासहस्रनाम'। इस स्तोत्र पर सौभाग्यराय नामक, काशी के महाराष्ट्रीय पडित ने 'सौभाग्य भास्कर' नामक पाडित्यपूर्ण टीका लिखी थी, जो अब निर्णयसागर प्रेस से छप गई है। भास्कर राय ने 'वामकेश्वर तत्र' के अन्तर्गत जो 'नित्या षोडशिकार्णव' है उस पर भी १६५४ शाके मे 'सेतुबध' नाम की टीका लिखी थी। इन टीकाओ मे कई स्थलो पर 'कुल' शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्याये दी हुई हैं। आधुनिक पडितो ने 'कुल' शब्द का अर्थ-विचार करते समय प्राय ही सौभाग्यराय की व्याख्याएँ उद्धृत की हैं।[1] सक्षेप मे उन्हे यहां सग्रह किया जा रहा है।

१—**दार्शनिक अर्थ**—ससार के सभी पदार्थ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इस तीन विभागो मे विभक्त हैं। ज्ञाता ज्ञान का कर्त्ता है और ज्ञेय उसका विषय। जानने की क्रिया का नाम ज्ञान है। जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सभी 'मेरे' ज्ञान के विषय हैं इसलिये "मैं" ज्ञान का कर्त्ता हुआ। और 'मैं जानता हूँ'—यह ज्ञान क्रिया है। इस प्रकार एक ज्ञान समवाय सबध से ज्ञाता मे, विषयता सबध से ज्ञेय मे और तादात्म्य सबध मे ज्ञानक्रिया मे रहा करता है। मैं 'घट को जानता हूँ इस स्थल पर 'ज्ञान' को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु मैं 'ज्ञान को जानता हूँ' इस स्थल पर ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये भिन्न ज्ञान की जरूरत नहीं है। क्योंकि ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है—वह स्वप्रकाश है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यो को प्रकाशित करने के लिये दीप की आवश्यकता होती है पर दीप को प्रकाशित करने के लिये दूसरे दीप की आवश्यकता नही होती क्योकि वह स्वप्रकाश है, इसी प्रकार ज्ञान भी अपने को आप ही प्रकाशित करता है। सो, यह जगत् ज्ञात, ज्ञेय और ज्ञान के रूप मे त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान रूप धर्म के एक होने के कारण 'सजातीय' हैं और इसीलिये वे 'कुल' (=जाति) कहे जाते हैं। इस कुल सबधी ज्ञान को ही कौलज्ञान कहते हैं। अर्थात् समस्तजागतिक पदार्थो का त्रिपुटीभाव सें जो ज्ञान है, वही कौलज्ञान है। और भी स्पष्ट शब्दो मे कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो परिपूर्ण अद्वैतज्ञान है वही कौलज्ञान है।[2] जो लोग इस ज्ञान के साधक हैं वे भी इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

२—**वंशपरक अर्थ**—'कुल' शब्द का साक्षात्सकेतिक अर्थ वश है। यह दो प्रकार का होता है—(१) विद्या से और (२) जन्म से। 'गोरक्षसिद्धान्त सग्रह' मे

---

१ (१) भारतीय दर्शन, पृ० ५४१ और आगे।
(१) कौल मार्ग रहस्य, पृ० ४-८।
(२) कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ३६-३८।

२ कौ० मा० र०, पृ० ४-६।

इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है। नादरूपा और विन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरपरा से और बिन्दुरूपा जन्मपरपरा से।[1] चूँकि इस मार्ग मे परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञान परपरा को ही प्राधान्य है, इसलिये विद्याक्रम को ही 'कुल' कहा जाता है। इसी कुल के अनुवर्ती 'कौल' हैं।

३—रहस्यपरक अर्थ—(१) कुल का अर्थ जाति है। एक ही जाति के वस्तुओं मे अज्ञानवश भिन्नजातीयता का भान हो गया है। उपास्य भी चेतन है उपासक भी चेतन है। इन दोनो को एक ही 'कुल' की वस्तु बताने वाले शास्त्र भी कुल शास्त्र हुए इन शास्त्रो को मानने वाले इसीलिए कौल कहे जाते हैं।

४—योग्यपरक अर्थ—'सौभाग्य भास्कर' (पृ० ३५) मे 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ भी दिया हुआ। 'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का अर्थ 'लीन' होना। हम आगे चलकर देखेंगे कि पृथ्वीतत्व मूलाधार चक्र मे रहता है। इसीलिये मूलाधार चक्र को 'कुल' कहते हैं। इसी मूलाधार से सुषुम्ना-नाडी मिली हुई है। जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनी सहस्रार चक्र मे परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसीलिये लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं।[2] 'तत्वसार' नामक ग्रथ मे कुण्डलिनी को शक्तिरूप मे बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डली।[3] इसी-लिये कुण्डलिनी को भी कुल कुण्डलिनी कहा जाता है।

३. दार्शनिक सिद्धान्त

तन्त्रमय दार्शनिक दृष्टि से सत्कार्यवादी है। जो वस्तु कभी थी ही नही वह कभी हो नहीं सकती। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही 'कारण' है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही 'कार्य' है।

प्रलयकाल मे समग्र जगत्प्रपच को अपने आप मे विलीन करके और समस्त प्राणियो के कर्मफल को सूक्ष्म रूप से अपने मे स्थापन करके एकमात्र अद्वितीय परशिव विराजमान रहते हैं। सृष्टि का चक्र जब फिर शुरू होता है (क्योकि प्रलयकालीन प्राणियो का अवशिष्ट कर्मफल परिपक्व होने को शेष रह गया होता है और इसी कर्मफल के परिपाक के लिये जगत्प्रपच फिर शुरू होता है) तो शिव मे अव्यक्त भाव से स्थित शक्ति फिर से 'सिसृक्षा' के रूप मे व्यक्त होती है। यह प्रथम आविर्भूत आद्या शक्ति ही 'त्रिपुरा' है। तान्त्रिक लोगो का सिद्धान्त है कि यद्यपि परब्रह्म सदा वर्तमान

---

[1] गो० सि० स०, पृ० ७१।

[2] वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव।
सा पुन: शाकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव॥ —गो० सि स०, पृ० १३

[3] तत्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृत:।
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावमता हि सा॥ —सि० सि० स०, ४।३०॥

रहते है तथापि इस 'त्रिपुरा' शक्ति के विना वे कुछ भी करने मे समर्थ नही होते। वह शक्ति स्वय आविर्भूत होती है और स्वयमेव सृष्टि विधान करती है। 'सिसृक्षा' शब्द का अर्थ है सृष्टि की इच्छा। यद्यपि यह शक्ति इच्छारूपा है तथापि चिन्मात्र (परब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण यह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप मे कल्पित किया है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय ज्ञातृ-रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता होने के कारण ही यह शक्ति 'त्रिपुरा' कही जाती है।[1] मत्स्येंद्रनाथ के कौलज्ञान मे इस शक्ति का इसी नाम से निर्देश नहीं पाया जाता पर यह स्पष्ट रूप से जान पडता है कि तान्त्रिको के सृष्टितत्त्व को वे भी उसी प्रकार मानते हैं। परन्तु यदि तन्त्रशास्त्र सत्कार्यवादी है तो ऊपर के बताये हुए सिद्धान्त मे एक आपत्ति हो सकती है। जो वस्तु कभी थी ही नही वह कभी उत्पन्न भी नही हो सकती, फिर जगत् शक्ति से उत्पन्न कैसे हो सकता है? इसके उत्तर मे बताया गया है कि वस्तुत शक्ति प्रलयकाल मे ३६ तत्त्वात्मक जगत् को कवलीकृत करके अर्थात् अपने आप मे स्थापित करके अव्यक्तरूप मे स्थित रहती है और वस्तुत जगत् उसकी व्यक्तावस्था का ही नाम है। फिर प्रश्न होता है कि क्यो न शिव को ही जगत् का कारण मान लिया जाय? यदि जगत् को सूक्ष्म रूप से अव्यक्त अवस्था मे शक्ति धारण करती है तो शक्ति को भी तो सूक्ष्म रूप मे शिव धारण किये होते हैं। फिर शक्ति को जगत् का कारण क्यो माना जाय? शिव ही वास्तविक और आदि कारण हुए। तान्त्रिक लोग ऐसा नही मानते। 'वामकेश्वर तन्त्र' (४-५) मे कहा गया है कि जब शक्ति जगत् रूप मे व्यक्त होती है तो उस अवस्था मे परशिव नामक किसी पदार्थ की उसे आकाक्षा नही होती। जो शाक्त तन्त्र के अनुयायी नही हैं वे ब्रह्म की शक्तिमाया को जड मानते है। किन्तु तान्त्रिक लोग परशिव शक्ति को चिद्रूपा अर्थात् चेतन मानते है चूंकि यह जगत् भी चिद्रूपा शक्ति का परिणाम है, इसीलिये यह स्वय भी चिद्रूप हैं। (कौ० मा० र०) 'कौलज्ञान निर्णय' मे मत्स्येंद्रनाथ ने जब कहा है कि शिव की इच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि होती है और उसी मे सब कुछ लीन हो जाता है तो वस्तुत उनका तात्पर्य यही है कि शक्ति ही जगत् का कारण है। क्योंकि शिव की इच्छा (सिसृक्षा) ही शक्ति है, यह बात हमने पहले ही लक्ष्य की है।

इस प्रकार परम शिव के सिसृक्ष होने पर शिव और शक्ति ये दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं परमशिव निर्गुण और निरञ्जन हैं, शिव सगुण और सिसृक्षा रूप उपाधि से

---

१ त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादित. प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥
कवलीकृतनि शेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी।
तस्या परिणातायान्तु न कश्चित् पर इष्यते ॥
वामकेश्वर तन्त्र (४।४-५) के इन श्लोको पर सेतुबन्ध टीका (१३४-५) देखिए।

विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है। धर्मी और धर्म अलग-अलग नही रह सकते। इसीलिये मत्स्येद्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के विना शिव नही होते और शिव के बिना शक्ति नही रह सकती (कौ० ज्ञा० नि० १७।८)। ये (१) शिव और (२) शक्ति ३६ तत्त्वो के प्रथम दो हैं। पहले वताया गया कि समस्त जगत् प्रपच का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किए रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था मे इस प्रकार का ज्ञान होता हैं कि मैं ही शिव हूँ। यही सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न (अह = मैं) रूप मे जानते हैं। इनका यह 'मैं' का भाव (= अहता) ही पराहन्ता या पूर्णाहन्ता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वरतत्त्व—जो जगत् को अपने से भिन्न-रूप (इद = यह) मे देखता है—कहते हैं। सो जगत् अह रूप मे समझने वाला तत्त्व (३) सदाशिव है और इद रूप मे समझने वाला तत्त्व (४) ईश्वर है। इस प्रकार प्रथम चार तत्त्व हुए—(१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर। सदाशिव जगत् को अहरूप मे दखते हैं। "जगत् मैं ही हूँ" इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (५) शुद्ध विद्या कहते है और यह जगत् मुझसे भिन्न है—इस प्रकार ईश्वर की वृत्ति का नाम (६) माया है। शुद्ध विद्या को आच्छादन करने वाली को अविद्या कहते हैं—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हैं। यह सातवाँ तत्त्व है। इस सांतवें तत्त्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को 'किंचिज्ज्ञ' अर्थात् 'थोडा जानने वाला' समझने लगता है। फिर क्रमश माया के वधन से शिव की सव कुछ करने की शक्ति [सर्वकर्तृत्व]। सकुचित होकर 'कुछ करने' की शक्ति वन जाती है, इसे कला कहते हैं, फिर उनकी 'नित्यतृप्तता' सकुचिन हो अपूर्ण 'तृप्ति' का रूप धारण करती है—यही राग तत्त्व है, उनका नित्यत्व सकुचित होकर छोटी सीमा मे बध जाता है, इसे काल तत्त्व कहते हैं, और उसकी सर्वव्यापकता भी सकुचित होकर नियत देश मे सकीर्ण हो जाती है—इसे नियति तत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार माया के वाद उसके ६ सकोचनकारी तत्त्व या कञ्चुक प्रकट होते हैं और उन्हें क्रमश. (७) विद्या या अविद्या (८) कला (९) राग (१०) काल और (११) नियति ये तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन ६ कचुको से वद्धशिव ही 'जीव' रूप मे प्रकट है, जीव तेरहवा तत्त्व है। यही साख्य लोगो का 'पुरुष' है। इसके वाद का क्रम वही है जो साख्यको का है। तान्त्रिक और शैव लोग साख्य के २४ तत्त्वो के अतिरिक्त पूर्वोक्त वारह तत्त्वो को अधिक मानते हैं।

चौदहवाँ तत्त्व प्रकृति है जो सत्व, रज और तम इन तीनो गुणो की साम्यावस्था का नाम है प्रकृति को ही चित्त कहते हैं। रजोगुण प्रधान अन्त करण को मन कहते हैं यह सकल्प का हेतु है। इस अवस्था मे तत्त्व और तमः ये दो गुण अभिभूत रहते हैं। इसी प्रकार जव रज और तम. गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है उस अवस्था का नाम वुद्धि है। वह निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु है। तथा सत्व और रज ये दोनो गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है तो इस अवस्था

का नाम अहकार है। इसमे भेद ज्ञान प्रधान होता है। इस प्रकार जीव नामक तत्त्व के बाद (१४) प्रकृति (१५) मन (१६) बुद्धि और (१७) अहकार ये चार और तत्त्व उत्पन्न हुए।

इसके बाद पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेंद्रिय, पांच तन्मात्र और पांच स्थूल महाभूत ये पद्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। *यही तान्त्रिको के ३६ तत्त्व हैं। यही शैव योगियो को* भी मान्य हैं। किन्तु 'कौल ज्ञान निर्णय' मे इन की कोई स्पष्ट चर्चा नही मिलती।

भगवान् सदाशिव ने अपने पांच मुखो से पांच आम्नायो का उपदेश दिया था—(१) सद्योजात नामक पूर्वमुख से पूर्वाम्नाय, (२) अघोर नामक दक्षिण मुख से दक्षिणाम्नाय, (३) तत्पुरुष नामक पश्चिम मुख से पश्चिमाम्नाय, (४) वामदेव नामक उत्तर मुख से उत्तराम्नाय और (५) ईशान नामक ऊपरी मुख से उर्द्धवाम्नाय। इन पांच आम्नायो मे इन्ही ३६ तत्त्वो का निर्णय हुआ है।[1] ऊपर के विवरण से इनका क्रम विदित होगा। सब तत्त्वो का यहां फिर से एकत्र सकलन किया जा रहा है—

१ शिव	१९ चक्षु
२ शक्ति	२०. जिह्वा
३ सदाशिव	२१. घ्राण
४ ईश्वर	२२. वाक्
५. शुद्धविद्या	२३. पाणि (हाथ)
६ माया	२४. पाद (चरण)
७ विद्या (अविद्या)	२५. पायु
८. कला	२६. उपस्थ
९. राग	२७. शब्द
१० काल	२८. स्पर्श
११. नियति	२९. रूप
१२ जीव	३० रस
१३ प्रकृति	३१ गध
१४ मन	३२. आकाश
१५ बुद्धि	३३. वायु
१६ अहकार	३४. तेज
१७ श्रोत्र	३५. जल
१८. त्वक्	३६ पृथ्वी

इन ३६ तत्त्वो मे प्रथम दो—शिव और शक्ति—'शिवतत्त्व' कहे जाते हैं। कारण यह है कि इन दो तत्त्वो मे सद्-चित्त आनद ये तीनो ही अनावृत और सुस्पष्ट रहते हैं। इसके बाद के तीन तत्त्व—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—विद्यातत्त्व कहे

---

१. परशुराम कल्पसूत्र १।२—४ पररामेश्वर की टीका।

जाते हैं, क्योंकि इनमे आनन्द-अश तो आवृत रहता है परन्तु सत् और चित् अश अनावृत रहते हैं। बाकी इकतीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहे जाते हैं, क्योंकि उनमे आनद और चित् ये दोनो ही आवृत रहते हैं और केवल 'सत्' (=सत्ता) अश ही प्रकट और अनावृत रहता है। चित् अश के आवृत रहने के कारण ये तत्त्व जडवत् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सारे ३६ तत्त्व तीन ही तत्त्वो के अन्तर्गत आ जाते हैं—(१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) आत्मतत्त्व। 'आत्मतत्त्व' मे आये हुए 'आत्म' शब्द को देखकर यह भ्रम नही होना चाहिए कि ये चैतन्यप्रधान है। वस्तुत. 'आत्म' शब्द का प्रयोग यहाँ जड शरीर की आत्मा समझने के अर्थ मे हुआ है।

यह स्पष्ट है कि शिव ही जीव रूप मे परिणत होते हैं। माया तीन प्रकार के मलो से शिव को आच्छादित करती है तव शिव 'जीव' रूप मे व्यक्त होते हैं। ये तीन मल हैं—(१) आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना (२) मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वतः एक अद्वैत पदार्थों मे भेदबुद्धि और (३) कर्म अर्थात् नाना जन्मो मे स्वीकृत कर्मों का संस्कार। इन्ही तीन मलो से आच्छन्न शिव ही जीव है। इसीलिये 'परशुराम कल्प सूत्र' मे कहा गया है कि 'शरीरकचुकित. शिवो जीवो निष्कचुक· परमशिव.' (१।५) अर्थात् शरीर (तीन मलो का परिणाम) द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। इसीलिए 'कौल ज्ञान-निर्णय' मे मत्स्येन्द्रपाद ने कहा है कि वस्तुत. जीव से जगत् सृष्ट हुआ है, जीव ही समस्त तत्त्वो का नायक है क्योंकि यह जीव ही हस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है, और सच पूछिये तो वही मन भी है, वही चराचर मे व्याप्त है। इसीलिए अपने को अपने ही समझ कर वह जीव—जो वस्तुत शिव का ही रूप है—युक्ति और मुक्ति दोनो का दाता है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही आत्मा को बाँधता है, आत्मा को मुक्त करता है, आत्मा ही आत्मा का प्रभु है। जिसने यह तत्त्व समझ लिया है कि यह काया आत्मा ही है, अपने को आप ही जाना जाता है और अपने से भिन्न समस्त पदार्थ भी आत्मा है वही 'योगिराट्' है, वह स्वय साक्षात् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने मे भी समर्थ है·—

जीवेन च जगत् सृष्ट स जीवस्तत्त्वनायक ।
स जीव.पुद्गलो हस स शिवो व्यापक पर ।
स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापक स चराचरे ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायक ॥
प्रथमस्तु 'गुरुर्ह्यात्मा ह्यात्मान वन्धयेत् पुनः ।
वधस्तु मोचयेद् ह्यात्मा ह्यात्मा वै कायरूपिण. ॥
आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञात स योगिराट् ।
स शिव. प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् पर ॥

—कौ० ज्ञा० नि० १७।३३-३७

४. कौल-साधना

यद्यपि गोरक्षसम्प्रदाय मे यह कहा जाता है कि उनके योगमार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य मे कोई भेद नही है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अन्तरग उपासना करने लगता है, परन्तु तान्त्रिक पहले बहिरग उपासना करने के बाद क्रमश अन्तरग (कुण्डली) साधना की ओर आता है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि तान्त्रिक कौलो को भी यही मत मान्य है। निस्सन्देह कौलमार्ग मे भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है। सक्षेप मे यहाँ कौल दृष्टिकोण को समझ लेने से हम आसानी से मत्स्येंद्रनाथ के दोनो मार्गों का भेद समझ सकेंगे।[1]

हम आगे चलकर देखेंगे कि योगी लोग भोगवर्जनपूर्वक यम-नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टाग योग-साधन करके समाधि के अन्त मे व्युत्थान अवस्था मे निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। तान्त्रिक लोगो का दावा है कि कौल साधक भी इसी आनन्द को अनुभव करते हैं। ये लोग कुलसाधना मे विहित विधि से कुलद्रव्य —मद्यादि—का सस्कार करके उसका सेवन करते हैं और सिद्धिलाभ करते हुए सातवे उल्लास की अवस्था मे पहुँचते हैं। 'कुलार्णवतन्त्र' में मद्यपान से उत्पन्न इन सात उल्लासो की चर्चा है। प्रथम उल्लास का नाम आरभ है। इसमे साधक तीन चुल्लू से अधिक नही पी सकता। दूसरी अवस्था 'तरुण उल्लास' है, जिसमे मन मे नये आनन्द का उदय होता है। जरा और अधिक आनन्द की अवस्था का नाम 'यौवन उल्लास' है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था जिनमे मन और वाक्य किंचित् स्खलित होते रहते हैं, 'प्रौढ उल्लास' कही जाती है। पूरी मत्तता आने को 'तदन्तो-ल्लास' नामक पाँचवी अवस्था कहते हैं। इसके बाद और पान करने पर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमे मनोविकार दूर हो जाते हैं और चित्त अन्तर्निरुद्ध हो रहता है। यही छठी 'उन्मनी-उल्लास' नामक अवस्था है। अन्तिम अवस्था का नाम 'अन-वस्था उल्लास' है। इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मानन्द अनुभव करने लगता हैं। कौल तान्त्रिको का दावा है कि यह आनन्द योगियो द्वारा अनुभूत निर्विकल्पक ब्रह्मानन्द से अभिन्न है।[2] 'कौलज्ञान-निर्णय' मे इन उल्लासो की चर्चा नही है। परन्तु वहाँ इसका विधान है अवश्य। 'कौल ज्ञान निर्णय' मे प्राय कुल द्रव्यो की आध्यात्मिक व्याख्या दी हुई है। मानस लिंग, मानस द्रव्य, मानस

---

१. बौद्ध तान्त्रिको के सबसे प्राचीन तन्त्रो मे से एक 'गुह्य समाजतन्त्र' है जिसकी रचना संभवत. सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी मे हो गई थी। उसमे उपसाधन के प्रसंग मे तान्त्रिक साधना बता लेने के बाद ग्रथकार ने लिखा है कि यदि ऐसा करने पर भी सिद्धि न मिले तो हठयोग से साधना करनी चाहिए (पृ० १६५)।

२. कौ० मा० र०, पृ० ४०-४१।

पुष्पक, मानस पूजा आदि बातें उसमे सर्वत्र लिखी पाई जाती हैं। नाथपथियो मे यह बात एकदम लुप्त नही हो गई है।

कौलमार्गी का दावा है कि उसका रास्ता सहज है और योगी का दुरूह। 'रुद्रयामल' मे कहा गया है कि जहाँ भोग होता है वहाँ योग नही होता और जहाँ योग होता है वहाँ भोग नही होता, परन्तु श्री सुन्दरी साधना के व्रती पुरुषो की योग और भोग दोनो ही हाथ मे ही रहते हैं।[1] 'कौल ज्ञान निर्णय' मे 'पच मकार' शब्द नही आया है। 'पच पवित्र' जरूर आया है। ये पच पवित्र हैं—विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा। साधना मे अग्रसर साधक के लिये ये विहित हैं (११वाँ पटल)। पच मकार की प्रायः सारी बाते—मद्य, मत्स्य, मास, मुद्रा और मैथुन—किसी न किसी रूप मे आ गई हैं। ग्यारहवे पटल मे जिन पांच उत्तम भोज्यो का उल्लेख है वे हैं—गोमास, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि। फिर श्वान, मार्जार, उप्द्र, हय कूर्म, कच्छप, वराह, वक, कर्कट, शलाकी, कुक्कुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक और सब प्रकार की मछलियाँ उत्तम भक्ष्य बताई गई हैं। पैष्टी, माध्वी और गैण्डी मदो को श्रेष्ठ कहा गया है। 'अकुल वीरतत्र' मे साधना मे सिद्ध उस पुरुष के लिये, जिसे अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया है, यह उपदेश है कि जागते-सोते, आहार-विहार, दारिद्रय शोक, अभक्ष्यभक्षण मे किसी प्रकार का भेदभाव या विचिकित्सा न करे। किसी भी इन्द्रियार्थ के भोग मे सशयालु न बने, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का विचार बिल्कुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिए कि न मैं ही कोई हूँ न मेरी ही कोई है, न कोई बद्ध है, न बधन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ।[2]

(परवर्ती नाथ सम्प्रदाय मे इन सभी बातो की आध्यात्मिक व्याख्या मिल जाती है। मानो मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेशो को लक्ष्य करके ही 'हठयोग प्रदीपिका' मे कहा गया है कि सच्चा कुलीन या कौल साधक वही है जो नित्य गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है। और योगी तो कुलघातक हैं। क्योकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु देश मे ले जाने को (खेचरी मुद्रा मे) ही 'गोमांस-भक्षण'

---

१ यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो तत्रास्ति मोक्षो न तु तत्रभोग ।
श्रीसुन्दरीसाधक पुगवाना भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

२ नाह कश्चिन्न मैं कश्चित् न बद्धो न च बधनम् ।
नाह किंचित करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते ॥
गच्छस्तिष्ठन्स्वपन्जाग्रद् भुज्यमाने च, मैथुने ।
भवदारिद्र्यशोकैश्च विष्ठामूत्रादिभक्षणे ॥
विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन ।
आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्ष विचारयेत् ॥

—अकुल वीरतत्र—ए० ६६-६८

कहते है। ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल मे योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वहाँ चद्रमा का स्थान है। इसी से सदा अमृत क्षरता है। यही अमर वारुणी है।[1] मत्स्येंद्र-नाथ की ज्ञानकारिका (८३-८४) मे भी इस प्रकार की यौगिक व्याख्या मिलती है। परन्तु इन यौगिक व्याख्याओ से ही यह स्पष्ट है कि जहाँ कौल साधक मत्रपूत वास्त-विक कुलद्रव्य को सेवनीय समझते हैं, वहाँ योगी उनके योगपरक रूपको मे सन्तोष कर लेते हैं।)

फिर भी यह कहा नही जा सकता कि गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलभ्य है उसमे योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने 'गोरक्ष पद्धति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। इसमे किसी और ग्रथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ सगृहीत हैं। ये दोनो ही निश्चित रूप से वज्र-यानी और सहजयानी साधनाओ के अवशेष हैं। जो योगी वज्रोलीमुद्रा का अभ्यास करता है वह योगोक्त कोई भी नियम पालन किए विना ही और स्वेच्छापूर्वक आच ण करता हुआ भी सिद्ध हो जाता है। इस मुद्रा मे केवल दो ही आवश्यक वस्तुएँ हैं, यद्यपि ये सबको सुलभ नही हैं। ये वस्तुएँ हैं, वशवर्तिना स्त्री और प्रचुर दूध।[2] पुरुष की सिद्धि के लिए जिस प्रकार स्त्री आवश्यक उपादान है उसी प्रकार स्त्री की सिद्धि के लिए भी पुरुष परम आवश्यक वस्तु है।[3] सो, यह पवित्र योग, भोग के आनन्द को देकर भी मुक्ति दाता है।[4] यहाँ इतना लक्ष्य करने की जरूरत है कि मूल गोरक्ष पद्धति मे ये श्लोक अन्तर्भुक्त नही हैं और कहाँ से लिए गए हैं, यह भी विदित नहीं है। जैसा कि शुरू मे कहा गया है, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है, उसमे पूर्वोपदिष्ट तत्रमार्ग के कुलद्रव्यो की केवल योगपरक और आध्या-त्मिक व्याख्याएँ मिलती हैं। यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस

---

१ गोमास भक्षयेन्नित्य पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीन तमह मन्ये इतरे कुलघातका॰॥
इत्यादि, हठ०, ३।४६-४८।

२ स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोली यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥
तत्र वस्तुद्वय वक्ष्ये दुर्लभ यस्यकस्यचित्।
क्षीर चैक द्वितीय तु नारी च वशवर्तिनी॥
—गोरक्ष पद्धति, पृ० ४८

३ पुसो विंदु समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजोरक्षेद् वज्रोल्या सापि योगिनी॥ —पृ० ५२।

४ देहसिद्धि च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगत:।
अय पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिद:॥—पृ० ५३।

मार्ग मे उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं या फिर हटाने के अनेक यत्नो के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। 'घेरण्ड सहिता'[1] मे इस वज्रोली या वज्रोणी का योगपरक प्रयोग पाया जाता है और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' तथा 'अमरौघ शासन' मे भी इसकी चर्चा पाई जाती है।

आजकल जो नाथयोगी सप्रदाय वर्तमान है उसमे भी वामाचार का प्रभाव है। ब्रिग्स ने लिखा है कि दुर्गापूजा मे कई स्थानो पर पच मकारो या कुछ मकारो का प्रचलन है, यद्यपि साधारणतः इसे हीन कोटि की साधना माना जाता है और इसके साधक इस बात को छिपाया करते हैं।[2] बालसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुराकुमारी की पूजा अब भी प्रचलित है। त्रिपुरा दस महाविद्याओ मे एक है। वे परम शिव की आदि सिसृक्षा हैं और ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप मे प्रकट हुए इस त्रिपुटीकृत, जगत् की आद्य उद्भाविका हैं। मालाबार मे १६ वर्ष की कन्या की पूजा प्रचलित है। इस पूजा का फल बच्चो की रक्षा और वशवृद्धि है। अलमोडा मे इस देवी का मदिर है। त्रिपुरा देवी की पूजा दक्षिणाचार से होती है, मासबलि नही दी जाती। स्त्रियाँ रात-रात भर खडी रहकर देवी को प्रसन्न करती हैं और अभिलषित वर पाने की आशा करती है। भण्डारकर ने लिखा है कि योगी लोग त्रिपुर सुन्दरी के साथ अपना अभेदज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को स्त्री रूप मे चिन्ता करने का अभ्यास करते हैं। इनके अतिरिक्त भैरवी अष्टनायिकाएँ, मातृकाएँ, योगिनियाँ, शाकिनियाँ, डाकिनियाँ और अन्य अनेक प्रकार की मृत्युचण्ड स्वभावा देवियाँ योगि सप्रदाय मे अब भी उपास्य मानी जाती हैं। ब्रिग्स[3] ने बताया है कि कनफटा योगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वासनाओ को दबाना साधनमार्ग का परिपथी है। वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिए वामाचार साधना को बहुत महत्त्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येन्द्रनाथ ने बार-बार कौलज्ञान निर्णय मे विवृत किया है, अब भी वर्तमान है। सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।

५. कौल साधक का लक्ष्य

कौल साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीवशक्ति कुडलिनी को उद्बुद्ध करना है। हम आगे चल कर इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करने का अवसर पाएँगे। यहाँ सक्षेप मे यह समझ लेना चाहिये कि शक्ति ही महाकुण्डलिनी रूप से जगत् मे व्याप्त है। मनुष्य के शरीर मे वही कुण्डलिनी रूप से स्थित है। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि मे प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणत तीन अव-

---

१. घेरण्ड सहिता, ३-४५-५८।

२. ब्रिग्स, पृ० १७१।

३ वही, पृ० १७२-१७४।

स्थाओ मे रहते हैं . जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न, अर्थात् या तो जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या स्वप्न देखते रहते हैं। इन तीनो अवस्थाओ मे कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इन अवस्थाओ मे इसके द्वारा शरीरधारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी के उद्वुद्ध होने की क्रिया के समझने के लिए मनुष्य-शरीर की कुछ खास बातो की जानकारी आवश्यक है। पीठ मे स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग मे लगता है वहाँ एक स्वयभू लिंग है जो एक त्रिकोणचक्र मे अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र मे स्थित स्वयभू लिंग को साढे तीन वलयो या वृत्तो मे लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलो का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छ दलो के कमल के आकार का है। इसके भी ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर, हृदय के पास अनाहत चक्र है। ये दोनों क्रमश दस और बारह दलो के पद्मो के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दल के पद्म के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य मे आज्ञा नामक चक्र है, जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रो को क्रमश. पार करती हुई उद्वुद्ध कुण्डलिनी शक्ति सब से ऊपर वाले सातवें चक्र (सहस्रार) मे परमशिव से मिलती है। इस चक्र मे सहस्र दल होने के कारण इसे सहस्रार कहते हैं और परमशिव का निवास होने के कारण कैलास भी कहते हैं।[1] इस प्रकार सहस्रार मे परमशिव, हृत्पद्म मे जीवात्मा और मूलाधार मे कुण्डलिनी विराजमान हैं। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है, इसीलिये कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। साधना के द्वारा निद्रिता कुण्डलिनी को जगा कर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाडी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार मे स्थिति परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्त्तव्य है।[2] वही शिव-शक्ति का मिलना होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है।[3] जब यह आनन्द प्राप्त हो जाता है तो साधक के लिये कुछ भी कारणीय बाकी नही रह जाता।

'कौल ज्ञान निर्णय' मे चक्रो की बात है परन्तु वह हूबहू परवर्ती नाथपथी चक्रो

---

१. अतऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थ बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति। —शिव सहिता ५-१५१-२।

२ निजावेशात्सम्यङनिबिडतमनैरुत्थ्यविध्रिवत्—
महानदावस्था स्फुरति वितता कापि सततम्॥
तत. सविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक.—
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरह.॥ —सि० सि०, स०, ५-११

३ समरसानन्दरूपेण एकाकार चराचरे।
ये च ज्ञात स्वदेहस्थमकुलवीरमहाद्भुतम्॥ —अकुल वीर तत्री बी० ११५

से नही मिलती। तृतीय पटल मे चार, आठ, बारह, सोलह, चौंसठ, सौ, सहस्र कोटि, सार्ध कोटि और तीन कोटि दल वाले चक्रो का उल्लेख है[1] और बाद मे कहा गया है कि इन सब के ऊपर नित्य उदित, अखण्ड, स्वतन्त्र पद्म है जहाँ सर्वव्यापी अचल निरंजन (शिव) का स्थान है। यही शिव का वह लिंग है जिसकी इच्छा (शक्ति) से सृष्टि होती है और जिसमे समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। वस्तुत: इस लीन होने की क्रिया के कारण वह 'लिंग' कहा जाता है। यही अखडमडलाकार निर्विकार निष्फल शिव हैं जिनको जाने बिना बन्ध होता है और जिनको जान लेने से मनुष्य सर्वबन्धो से मुक्त हो जाता है।[2] चक्रो के कमलदलो को न्यूनाधिक।सख्या से यह नही समझना चाहिए कि नाथपथी मत इस मत से भिन्न हैं। वस्तुत. नाथपथ मे नाना प्रकार से चक्रो की कल्पना की गई है। असली बात यह है कि सिद्धान्त उभयत्र एक ही है। 'कौल ज्ञान निर्णय' साधनपरक शास्त्र है। उसमे विधियो का ही अधिक उल्लेख है परतु मूल रूप से समस्त योगियो और कौलो का जो लक्ष्य है वह इस शास्त्र मे भी है। अन्तिम लक्ष्य दोनो का एक ही है।[3]

प्रत्येक मनुष्य इस कौल साधना के लिये समान भाव से विकम्पित नही है। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनमे सासारिक आसक्ति अधिक होती है। इस प्रकार मोह-रूपी पाश या पगहे से बँधे हुए जीवो को 'पशु' कहते हैं। शास्त्र में उनके लिये अलग ढग की साधना निर्दिष्ट है। परन्तु कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अद्वैत ज्ञान का एक उथला-सा आभासमात्र पाकर साधन मार्ग मे उत्साहित हो जाते हैं और प्रयत्न पूर्वक मोहपाश को छिन्न कर डालते हैं। इन्हे 'वीर' कहा जाता है। यह साधक क्रमश अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता है और अन्त मे उपास्य देवता के साथ अपने आपकी एकात्मकता पहचान जाता है। जो साधक सहज ही अद्वैत ज्ञान को अपना सकता है वह उत्तम साधक 'दिव्य' कहलाता है। इस प्रकार साधक तीन श्रेणी के हुए—पशु, वीर और दिव्य। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होत हैं। इन तीनो की अवस्थाओ को क्रमश. पशु-भाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं। शास्त्र मे, इसके लिये अलग-अलग साधन-मार्ग उपदिष्ट हैं।

---

१ कौ० ज्ञा० नि०, ३-६—८।

२ तस्योर्ध्वे व्यापक तत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातन्त्र्यमव्ययमचल सर्वव्यापी निरञ्जनम्॥
तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लय तत्रैव गच्छति।
तेन लिंग तु विख्यात यत्र लीन चराचरम्।
अखण्डमण्डल रूप निर्विकार सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बधमुद्दिष्ट ज्ञात्वा बधैः प्रमुच्यते।
—कौ० ज्ञा० नि०, ..-९-११

३ गो० सि० सं०, पृ० २०।

तन्त्रशास्त्र मे सात प्रकार के आचार वताये गये हैं, वेदाचार, वैष्णवाचार शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमे जो (१) वेदाचार है उसमे वैदिक काम्य कर्म योगयज्ञादि विहित हैं, तन्त्र के मत से वह सव से निचली कोटि की उपासना है। (२) वैष्णवाचार मे निरामिष भोजन, पवित्र भाव से व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है, (३) शैवाचार मे यम-नियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना, तथा (४) दक्षिणाचार मे उपर्युक्त तीनो आचारो के नियमो का पालन करते हुए रात्रिकाल मे भाग आदि का सेवन कर के इष्ट मन्त्र का जप करना विहित है। यद्यपि इन चारो मे पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है, परन्तु ये चारो ही आचार पशुभाव के साधक के लिए ही विहित हैं। इसके वाद वाले आचार वीर भाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार मे आत्मा को वामा (शक्ति) रूप मे कल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार मे मन को अधिकाधिक शुद्ध कर के यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से ससार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक मे कुछ भी ऐसा नही है जो परमशिव से भिन्न हो। इन सव मे श्रेष्ठ आचार है। (७) कौलाचार। इसमे कोई भी नियम नही है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था मे उपनीत हो गये होते है, और जैसा 'भावचूडामणि' मे शिवजी ने कहा है, कर्दम और चन्दन मे, पुत्र और शत्रु मे, श्मशान और गृह मे तथा स्वर्ण और तृण मे लेशमात्र भी भेद बुद्धि नही रखते—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्न पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये॥
श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौल· परिकीर्तितः॥

इसी भाव को वताने के लिये मत्स्येन्द्रनाथ ने 'अकुल वीर तन्त्र' मे कहा है कि जव तक अकुलवीर रूपी अद्वैत ज्ञान नही, तभी तक बालबुद्धि के लोग नाना प्रकार की जल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधक है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धि के विकल्प हैं (अकुलवीरतन्त्र-ए ७८-८७)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणा की आवश्यकता नही रहती (१७-२०), वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपास्यो से अभिन्न होकर स्वय ध्यान और ध्याता बन जाता है। (२६-२८)—वह यज्ञ-उपवास, पूजा-अर्चना होम, नित्य-नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थ-यात्रा, धर्म, अधर्म, स्नान, ध्यान सब के अतीत हो जाता है (४३-४६)। और अधिक कहने से क्या लाभ, वह व्यक्ति समस्त द्वन्द्वो से रहित हो जाता है—

अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जित·।

यह मच्छन्दपाद के अवतारित शास्त्र का चरम लक्ष्य है।

६

जालंधरनाथ और कृष्णपाद

१. साधारण जीवन-परिचय

हमने मत्स्येंद्रनाथ के समय का विचार करते समय देखा है कि उनके समय के निश्चित होने के साथ ही साथ जालधरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कानिफा का समय भी निश्चित हो जाता है क्योकि समस्त परम्पराएँ वताती हैं कि ये सम-सामयिक थे। उक्त समय हम पहले ही निश्चित कर चुके हैं, इसलिये उस शास्त्रार्थ मे फिर से उलझने की यहाँ जरूरत नही है। जालधरनाथ मत्स्येंद्रनाथ के गुरुभाई थे। तिब्बती परम्परा मे मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। उक्त परम्परा के अनुसार नगर-भोग देश मे (?) ब्राह्मणकुल मे इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पडित भिक्षु वने किन्तु घटापाद के शिष्य कूर्मपाद की सगति मे आकर ये उनके शिष्य हो गए। मत्स्येंद्रनाथ, कण्हपा (कृष्णपाद) और ततिपा इनके शिष्यो मे थे। भोटिया ग्रथो मे इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है।[1] तनजूर मे इनके लिखे हुए सात ग्रथो का उल्लेख है जिनमे राहुल जी के मतानुसार दो मगही भाषा मे लिखे गए हैं। ये दो हैं (१) 'विमुक्त मजरी गीत' और (२) हुङ्कार चित्त विंदु भावना क्रम।'[1] डाक्टर कर्डिये ने तनजूर मे प्राप्य वौद्ध तन्त्रग्रथो की एक तालिका फ्रेंच भाषा मे प्रकाशित की है उसमे (पृ० ७८ पर) सिद्धाचार्य जालधरिपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रथ का भी नाम है। सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तन्त्रग्रथ 'हे वज्र साधन' पर टिप्पणी रूप मे लिखित इस ग्रथ का नाम है, 'शुद्धि वज्रप्रदीप।' ये सभी पुस्तके काया योग से सम्वद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि ये पजाव मे अधिष्ठित जालधरपीठ नामक तांत्रिक स्थान मे उत्पन्न हुए थे। एक दूसरी परम्परा के अनुसार वे हस्तिनापुर के पुरुवशी राजा वृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे, और इसीलिये इनका नाम ज्वालेंद्रनाथ पडा था।[2] इस प्रकार तीन स्थानो को इनकी जन्मभूमि वताया गया है, नगरभोग, हस्तिनापुर और जालधर पीठ। इनकी जाति के वारे मे भी यही विवाद है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मण थे,

---

१ गगा, पुरातत्वाक, पृ० २५२-३।

२ यो० स० आ०, पृ० ८६, ८७।

बगाली परम्परा मे ये हाडी या हलखोर माने गए हैं, 'योगि सम्प्रदाया विष्कृति' के अनुसार वे युधिष्ठिर की २३वी पुश्त मे उत्पन्न पुरुवशीय राजा वृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे।

जालधर नाम से अनुमान किया जा सकता है कि ये जालधरपीठ मे या तो उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। हठयोग की पुस्तको मे एक वन्ध का नाम जालन्धर वन्ध है। वताया जाता है कि जालन्धरनाथ के साथ सम्वद्ध होने के कारण ही यह वन्ध जालन्धर वन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार गोरक्षनाथ, मत्स्येद्रनाथ के नाम पर भी एक-एक वन्ध पाये जाते हैं। योगशास्त्रीय पुस्तको मे एक और वन्ध उड्डियानवन्ध है। यह सभवत. उड्डियानपीठ के किसी सिद्ध द्वारा प्रवर्तित है। गायकवाड सीरीज मे 'साधनमाला' नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक डॉ० विनयतोषजी भट्टाचार्य का अनुमान है कि उड्डियान उडीसा में या आसाम मे कही है। डॉ० बागची ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन दि तन्त्राज़' मे (३७-४०) इस मत की समीक्षा की है। और योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि उड्डियान वस्तुत स्वात उपत्यका में ही है और वह जालन्धरपीठ के कही आसपास ही है। जितनी भी परम्पराओ का ऊपर उल्लेख है वे सभी जालन्धरनाथ का जन्म-स्थान पजाब की ओर ही निर्देश करती हैं। यह असभव नही कि जालन्धरनाथ का सम्बन्ध उड्डियान और जालधर दोनो बधो से हो। हमारे इस प्रकार अनुमान का कारण यह है कि उड्डियान मे सचमुच ही ज्वालेन्द्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चलकर बडे सिद्ध हुए थे। तारानाथ (पृ० ३२५) ने उड्डियान देश के दो भाग बताए हैं, एक का नाम सम्भल है और दूसरे का लकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रन्थो मे इस लकापुरी की चर्चा आती हैं।[1] सम्भलपुरी के राज इन्द्रभूति थे और लकापुरी के जालेन्द्र। इन्ही जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन की शादी हुई थी। शबरतन्त्र का सम्बन्ध सम्भलपुरी से बताया जाता है। अब इतना निश्चित है कि (१) उड्डियान और जालन्धरपीठ पास ही पास हैं। (२) उड्डियान में ही कहीं लकापुरी है जहाँ कोई जालेद्र नामक राजा थे[2] जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे[3] और (३) हठयोग के ग्रन्थो मे उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध नाम के जो वन्ध हैं उनका सम्बन्ध इन मे से किसी एक से या अनेक से होना असभव नहीं है। यह कहना बडा कठिन है कि जालेन्द्र राजा ही जालन्धर हैं या नही।

पौराणिक विश्वास के अनुसार इस जालधरपीठ मे सती के मृत शरीर का—जिसे लेकर उन्मत्तभाव से शिव ताण्डव करने लगे थे—स्तनभाग पतित हुआ था। यह

---

१ स्ट० त०, पृ० ३६।

२. राहुलजी ने इद्रभूति को लकापुरी का राजा लिखा है, गगा, पुरा० पृ० २२-२। और उनकी बहन लक्ष्मीकरा को सभल नगर की योगिनी कहा है (पृ० २२४)।

३ उड्डियान और जालन्धरपीठ के लिये देखिए—सिनो इडियन स्टडीज, जिल्द

पीठ त्रिगर्त प्रदेश मे है जो पंजाब के एक अंश का पुराना नाम है। विश्वास किया जाता है कि यहाँ मरने से कीट-पशु-पतंग सभी मुक्त हो जाते हैं। कहते हैं कि जालंधर दैत्य का वध करने के कारण शिव पापग्रस्त हो गए थे और जब इस पीठ मे आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की, तब जाकर उनका पाप दूर हुआ। यहाँ की अधिष्ठात्री देवी त्रि-शक्ति-अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं। परन्तु स्तनाधिष्ठात्री श्री वज्रेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ मे विद्याराज्ञी के चक्र तथा आद्या त्रिपुरा की पिण्डी की स्थापना है।[1]

इसमे तो कोई संदेह ही नही की जालंधरपीठ किसी जमाने मे वज्रयानी साधना का प्रधान केंद्र था। उसका कोई न कोई चिह्न यहाँ होना चाहिए। इन दिनो यह विशुद्ध हिन्दू तीर्थ है। यहाँ अम्बिका, चामुण्डा, ज्वालामुखी, आशापूर्ण, चामुण्डा तारिणी, अष्टभुजा आदि अनेक देवियाँ तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल आदि अनेक शिवस्थान तथा व्यास, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि मुनियो के आश्रम हैं। कौन यह कहता है कि ये अनेक वज्रयानी साधको के ब्राह्मणीकृत रूप नही हैं? यह लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि इस पीठ की प्रधान अधिष्ठात्री शक्ति त्रिशक्ति हैं तथापि मुख्य स्तनपीठ की अधिष्ठात्री देवी का नाम व्रजेश्वरी है।[2] यह व्रजेश्वरी 'वज्रेश्वरी' का ब्राह्मणीकृत रूप तो नहीं है? विषय अनुसंधेय है। जो हो, जालंधर-पीठ के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण होने मे कोई संदेह नही है। परन्तु ये परम्पराएँ इतनी विकृत हो गई हैं कि इन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य का खोज निकालना दुष्कर ही है।

जालंधरनाथ-विषयक जितनी भी परम्पराएँ उपलब्ध हैं उनमे इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मीकरा के साथ उनके किसी प्रकार के संबंध का कोई इशारा भी नही है। लक्ष्मीकरा कोई साधारण स्त्री नही थी, उन्हें वज्रयानी परम्परा में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। ये चौरासी सिद्धो मे एक हैं और 'आचार्या' 'भगवती' 'लक्ष्मी' 'राजकुमारी' 'भट्टारिका' 'महाचार्यश्री' आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेषणो से विशिष्ट करके उन्हें याद किया जाता है। तिब्बती अनुवादो मे उनके कई ग्रंथ सुरक्षित हैं—'प्रतीलोद्योतन' विषयपद पंजिका', 'अद्वयसिद्धि साधन नाम', 'व्यक्त भाव सिद्धि', 'सहज सिद्धि पद्धति नाम', 'चित्तकल्प परिहार' 'दृष्टिनाम' और 'वज्र-

---

१ भाग १ मे डॉ० पी० सी० बागची का वज्रगर्भ तंत्र राज सूत्र ए न्यू वर्क ऑव किंग इन्दुबोध—स्टडी ऐण्ड ट्रान्सलेशन।

२ कल्याण शक्ति अंक में श्री तारानन्द जी तीर्थ के एक लेख के आधार पर। दे० पृ० ६७५।

२ यह बात प्रथम संस्करण मे लिखी गई थी। उसके प्रकाशन के बाद मुझे जालंधर माहात्म्य नामक हस्तलिखित पुस्तक उपलब्ध हुई। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इसमे देवी का नाम वज्रेश्वरी ही है।

यानचतुर्दशमूलापत्तिवृत्ति।' इस प्रकार की प्रसिद्ध और गौरवास्पद महिला से यदि जालधरनाथ का कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओ मे उसका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता। इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जालेद्र, ज्वालेंद्र और जालधर नामो के उच्चारणसाम्य के कारण इनको आपस मे बुरी तरह से उलझा दिया गया है। परन्तु यह बात फिर भी जोर देकर के ही कही जा सकती है कि जालधरनाथ का सबध जालधरपीठ से भी था और उड्डियानपीठ से भी।

लक्ष्य करने की बात है कि जालधरनाथ के प्रसिद्ध शिष्य कानफा या कृष्णपाद ने अपने गुरु का नाम 'जालधरिपा' कहा है। राहुलजी ने उनका मगही हिन्दी मे लिखित जो पद उद्धृत किया है उसमे उनका नाम 'जालधरि'`लिखा है और आज भी जालधरनाथ का सप्रदाय 'जालधरिपा' कहलाता है। 'जालधरिपा' या 'जालधरिपाद' शब्द सूचित करता है कि ये जालधर से सबद्ध अवश्य थे। चाहे जन्म से हो, चाहे सिद्धि प्राप्त करने से। वर्तमान अवस्था मे इससे अधिक कुछ कह सकना सभव नही है।

जालधरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद जिन्हे कण्हपा, कान्हूपा, कानपा, कानफा आदि नामो से लोग याद करते हैं। श्री राहुल जी ने तिब्बती परम्परा के आधार पर इन्हे कर्णाटदेशीय ब्राह्मण माना है पर डॉ० भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति मे उत्पन्न और उडियाभाषी लिखा है।[1] शरीर का रग काला होने से इन्हें 'कृष्णपाद' कहा गया है। महाराज देवपाल (८०६-८४६ ई०) के समय मे यह एक पडितभिक्षु थे और कितने ही दिनो तक सोमपुरी विहार (पहाडपुर, जिला राजशाही, बगाल) मे रहा करते थे। आगे चल कर सिद्ध जालधरपाद के शिष्य हो गए, चौरासी सिद्धो मे कवित्व और विद्या दोनो दृष्टियो से ये सब से श्रेष्ठ थे। इनके सात शिष्य चौरासी सिद्धो मे गिने जाते हैं जिनमे नखला और मेखला नाम की दो योगिनियाँ भी हैं।[2] इनके बारे मे महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा है कि इनकी लिखी ५७ पुस्तके प्राप्त हुई हैं और १२ सकीर्तन के पद पाए गए हैं। तनजूर मे इन्हें पद्रह स्थान पर भारतवासी कहा गया है, केवल एक स्थान पर एक उडीसादेशी ब्राह्मण कृष्णपाद का नाम है ये लेकिन मूलग्रथकार नही बल्कि तर्जुमा करने वाले हैं। असल मे कई कृष्णपाद या कृष्णाचार्य हो गए हैं। इनका कही महाचार्य, कही महासिद्धाचार्य, एही उपाध्याय और कही मण्डलाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है।[3] राहुल जी के कथनानुसार तनजूर मे दर्शन पर छ· और तन्त्र पर इनके चौहत्तर ग्रन्थ मिलते हैं[4] दर्शन ग्रथों मे इन्होने शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर 'बोधिचर्यावतार दुखबोधपद निर्णय' नामक

१ साधनमाला, द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृ० ५३।
२ गगा, पुरातत्त्वाक, पृ० २५४।
३. बौ० गा० दो०, पृ० २४।
४. गगा, पृ० २५४।

टीका लिखी थी । इनकी भाषा पर से श्री विनयतोष जी भट्टाचार्य इन्हें उड़ियाभाषी[1], हरप्रसाद शास्त्री बंगलाभाषी[2] और राहुल जी मगही (बिहारी) भाषी[3] कहते हैं । राहुलजी ने निम्नलिखित ग्रन्थों को मगही भाषा में लिखित बताया है—(१) कान्ह-पाद गीतिका, (२) महाढुण्ढनमूल, (३) वसन्त तिलक, (४) अनवद्य दृष्टि (५) वज्र गीति और (६) दोहाकोष बौद्ध गान में दोहा कोष संस्कृत टीका सहित छपा है जिसमें बत्तीस दोहे हैं ।

आगे इन्हीं दोहों और उसकी संस्कृत टीका के आधार पर 'कान्हूपाद' या 'कृष्णपाद'[4] के सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा । साधन माला में कुरुकुल्ला देवी की साधना के प्रवर्तकों में इन्हें भी माना गया है ।[5]

---

१ साधनमाला (गायकवाड ओरिएंटल सीरिज), पृ० ५३ ।

२ बौ० गा० दो०, पृ० २४ ।

३ गंगा, पृ० -५४-५ ।

४ योगि सम्प्रदायाविष्कृति में इन्हीं का नाम करणिपानाथ बताया गया है । इस ग्रंथ के अनुसार ब्रह्मा जी जब सरस्वती को देखकर मुग्ध हुए तो अपना स्खलित रेतस् उन्होंने गंगा में छोड़ दिया जो किसी हाथी के कान में प्रवेश कर गया । उसी से हरिद्वार के पास कर्ण या करणिपानाथ प्रादुर्भूत हुए (पृ० ८३) ।

५. परानंदसूत्र : प्रस्तावना पृ०, १०-११ ।

७

जालन्धरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत

हमने ऊपर देखा है कि कान्हूपा या कानपा (कृष्णपाद) ने स्वय अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालधरपाद का शिष्य बताया है। परवर्ती सस्कृत साहित्य मे शैव कापालिको का वर्णन मिलता है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेखयोग्य वर्णन नही मिलता। भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। 'मालती-माधव' से जान पडता है कि यह.कापालिक साधना शैव मत की थीं। श्री पर्वत उन दिनो का प्रसिद्ध तान्त्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पडता है कि उन दिनो श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शक्ति साधनाएँ पास ही पास फल फूल रही थी। वाणभट्ट ने कादवरी और हर्षचरित मे पर्वत को शाक्त तत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालधरपाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियो की मध्यस्थता मे प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धो ने जालधर और कानपा दोनो को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप मे यह साहित्य हमे मिलता है वही उसका मूल रूप है या नही। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है, वह निस्सदेह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह वात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सप्रदाय को अव भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी सप्रदाय मे नही माना जाता और उनका प्रवर्तित कहा जाने वाला एक उपसप्रदाय वामारग (=वाममार्ग) आज भी जीवित है।

विद्वानो का अनुमान है कि यक्षो की पूजा इस देश के उत्तरी हिस्से मे बहुत पूर्व से प्रचलित थी। यक्ष, अप्सरा, गधर्व आदि एक ही श्रेणी के देवयोनि माने गए हैं। इन्ही यक्षो को वज्रधर समझा जाता था। श्री रमाप्रसाद चन्द ने (ज० डि० ले०, जिल्द ४) दिखाया है कि बुद्ध-पूर्व युग मे यक्षो का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। हमने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' मे दिखाया है कि वरुण, कुवेर और कामदेव वस्तुत. यक्ष देवता हैं। नाना मूर्तियो और उत्कीर्ण चित्रो के आधार पर विद्वानो ने सिद्ध किया है

कि धीरे-धीरे कुछ यक्ष देवता बौद्ध सम्प्रदाय के मान्य हो गए ।[1] 'उपासकदशा सूत्र' मे मणिभद्र चैत्य की चर्चा है और 'सयुक्त निकाय' मे मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है । आगे चलकर मणिभद्र को बुद्ध का शिष्य बताया गया है । एक और यक्ष वज्रपाणि भी बुद्ध का शिष्य होता है और आगे चलकर बोधिसत्त्व का महत्त्वपूर्ण पद पा जाता है । यही 'बोधिचर्यावतार की टीका' मे (विब्लि० इडि० पृ० ६) वज्री अर्थात् वज्रपाणिबोधिसत्त्व कहा गया है । श्री एन० जी० मजूमदार ने दिखाया है कि यही वज्रपाणिबोधिसत्त्व आगे चलकर उत्तरी भारत के बौद्ध धर्म के महान् उपास्य हो जाते हैं । एसियाटिक सोसायटी मे 'कृष्णयमारितत्र' (न० ९९६४) की पाण्डुलिपि मे वज्रपाणि को 'सर्वतथागताधिपति' कहकर स्मरण किया गया है और 'अष्ट साहस्निका प्रज्ञा पारमिता' के सत्रहवे अध्याय मे (पृ० ३३३) इन्हें 'महायक्ष' कहा गया है । 'तथागत गुह्यक' मे इन्हें 'गुह्यकाधिपति' कहा गया है ।[2] इस प्रकार वज्रयानी ग्रथो मे यद्यपि वज्रपाणि महान् देवता हो गये हैं । तथापि उनके यक्ष रूप को भुलाया नही गया है । पुराने यक्ष-सप्रदाय का क्या रूप था यह स्पष्ट नही है । पर इतना निश्चित है कि यक्ष लोग विलासी हुआ करते थे । अप्सराएँ और कामदेव इनके देवता हैं और सुरापान भी इनमे प्रचलित था । वरुण तो वारुणी या मदिरा के देवता ही हैं । इनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है । ऐसा जान पडता है कि बौद्ध धर्म मे इस संप्रदाय के प्रवेश करने के बाद से वह तान्त्रिक रहस्यमयी साधना प्रचलित हुई जिसमे स्त्री-सग और मदिरा की पूरी छूट थी । 'ललितविस्तर' मे यज्ञ कुल को स्पष्ट रूप से वज्रपाणि का उत्पत्तिस्थल कहा गया है (यज्ञकुलम् यत्र वज्रपाणेरुत्पत्ति) । किस प्रकार यह साधना धीरे-धीरे शैव मत को प्रभावित करने मे समर्थ हुई यह बात साधना साहित्य r इतिहास की अनेक गुत्थियो को सुलझा सकेगी । इतना स्पष्ट है कि वज्रयान के कई देवता शिव के समान हैं ।

'चर्याचर्य विनिश्चय' की टीका मे दारिकपाद का एक श्लोक उद्धृत है जिसका अर्थ और पाठ दोनो ही बहुत स्पष्ट नही है । इससे 'कापालिक' शब्द की मूल व्युत्पत्ति का आभास मिल जाता है । प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् 'कपालिनी' हैं) और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न हैं ।[3] ऐसा जान पडता है कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक कही गई है । 'साधन माला' के ४६९ वें पृष्ठ पर हेरुक की साधना का उल्लेख है जो बहुत

१. एन० जी० मजुमदार, ज० डि० ले० : जिल्द ११ सन् १९२४ ।

२ वही ।

३ हरप्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है—

"प्राणी वज्रधर· कपाल-वनितातुल्यो जगत् स्त्रीजन·
सोऽह हेरुक मूर्तिरेष भगवान् यो न· प्रभिन्नोऽपिच ।" इत्यादि ।

कुछ नटराज शिव से मिलता है।[1] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हेरुक शिव के एक गण का नाम है।

'मालती-माधव' मे इन कापालिको का जो प्रसग है वह इतना पर्याप्त नही है कि उस पर से कुछ विस्तृत रूप से इनके विषय मे जाना जा सके। दातडीपाद या दाओडीपाद बौद्ध वज्रयानी साधक थे। उनके श्लोक से इतना तो स्पष्ट ही होता है कि कापालिक साधना मे स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग मे वज्रोली नामक जो मुद्रा पाई जाती है उसमे भी स्त्री का होना परम आवश्यक माना गया है। 'मालती माधव' का कापालिक अघोरघट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योग साधन करता था। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि क्या शैव और क्या बौद्ध दोनो कापालिक साधनाओ मे स्त्री की सहायता आवश्यक थी। नीचे हम दोनों प्रकार की साधनाओ का साधारण परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

'मालती माधव' मे कुछ थोडे से श्लोक है जिन पर से इस मत का एक साधारण परिचय मिल जाता है। पचम अक के आरभ मे ही कपालकुण्डला शिव की स्तुति करती पाई जाती है। इस श्लोक[2] का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है 'छ' अधिक-दस नाडी-चक्र के मध्य मे स्थित है आत्मा जिसकी, जो हृदय मे विनिहितरूप है, जो सिद्धिद है उसे पहचानने वालो का, अविचल चित्त वाले साधक जिसे खोजा करते हैं उन शक्तियो से परिणद्ध शक्तिनाथ की जय हो।' इस श्लोक की ठीक-ठीक व्याख्या क्या है, वह टीकाकार जगद्धर को भी नहीं मालूम था। उन्होंने प्राय प्रत्येक पद की व्याख्या मे दो-तीन संभावित अर्थ बताए हैं। 'शक्तियो से परिणद्ध' इस शब्द समूह की व्याख्या के प्रसग मे उन्होंने बताया है कि इसके दो अर्थ सभव हैं। ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेंद्री-चामुण्डा-चण्डिका ये आठ शक्तियाँ हैं, इनसे शिव को वेष्टित कहा गया है क्योकि वे भैरवमूर्ति हैं। या फिर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न (क्रिया)-रूप शक्तियो से युक्त शक्तिनाथ

डा० प्रबोधचद्र बागची महाशय ने मुझे बताया है कि तिब्बती अनुवाद के साथ मिलाने पर उन्हें मालूम हुआ है कि 'न' प्रभिन्नोऽपि च' के स्थान पर "न प्रभिन्नोऽपि च' पाठ होना चाहिए। 'चर्याचर्य विनिश्चय' मे कई स्थान पर (पृ० २२, २३) इस आचार्य का नाम 'दातडीपाद' दिया हुआ है पर डा० बागची महाशय ने मुझे बताया है कि वस्तुत' यह "दाओडीपाद" होना चाहिए।

१. साधनाओ में त्रिनयन हेरुक का ध्यान भी दिया हुआ है। एक उल्लेख्य बात यह है कि हेरुक कानो मे कुडल धारण किए हुए बताए गए हैं (साधन० २४४) और २४५वी साधना मे इस कुण्डल को 'नरास्थि' अर्थात् मनुष्य की हड्डियो से बना हुआ कहा गया है (दे० पृ० ४७५)।

२. षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदिविनिहितरूप' सिद्धिदस्तद्विदा य। अविचलितमनोभि. साधकैर्मृग्यमाणः स जयति परिणद्ध. शक्तिभिः शक्तिनाथ ॥

शिव। इन दोनो अर्थों के लिये जगद्धर ने कोई प्रमाणवचन नही उद्धृत किए। इससे अनुमान होता है कि सामान्य तान्त्रिक विश्वासो के आधार पर ही यह व्याख्या की गई है, किसी कापालिक ग्रथ के आधार पर नही। परन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि भवभूति ने 'शक्तिनाथ' शब्द का प्रयोग किया है जो कापालिको मे प्रचलित नाथ शब्द से उनके परिचय का सबूत है। और यह अनुमान करना अनुचित नही है कि वे शैव-कापालिकों से अच्छी तरह परिचय रख कर ही अपना नाटक लिख रहे थे। 'षडधि-कदश' या 'छ-अधिक-दस' नाडीचक्र भी टीकाकार के लिये वैसी ही समस्या रही है। इस शब्द के उन्होने तीन अर्थ किए हैं। प्रथम और प्रधान अर्थ यह है कान-नाभि हृदय-कठ-तालु और भ्रू के मध्यवर्ती छ ऐसे स्थान हैं जहाँ अनेक नाडियों के सघट्ट या सम्मिलन है। ये सघट्टस्थान हृदय आदि मे अधिष्ठित प्राण विशेष के चलन योग से बने हुए चक्रो की भाँति है और इन स्थानो पर शिव और शक्ति का मिलन होता है। सब मिला कर १०१ नाडियाँ ऊपर नीचे और दायें बायें छितराई हुई हैं। उनमे अधिक प्रधान दस हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अरुणा, अलम्बुषा, कुहू और शखिनी।[1] इनके समूह मे हृदय-पद्म के बीच सूक्ष्म आकाश देश मे—जो प्राणादि का आधार है—शिवस्वरूप कूटस्थ आत्मा स्थित है। यद्यपि यह सिर से लेकर पैर तक समस्त स्थानो को व्याप्त करके विराजमान है तथापि इसका मुख्य स्थान हृदय-पकज ही है।[2] दूसरा अर्थ यह है सोलह नाडियो के चक्र मे स्थित है आत्मा जिसकी। टीकाकार ने सोलह नाडियो का न[3] तो कोई ग्रथान्तरलभ्य प्रमाण ही दिया है और न नाम ही बताए हैं। केवल 'सर्वं शिवमय मतम्' कहकर इस प्रसग को समाप्त कर दिया है। तीसरा अर्थ है छ अधिक-दस नाडी चक्र। परन्तु इस श्लोक से इतना स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि (१) भवभूति का जाना हुआ कापालिक मत परवर्ती नाथपथियो के समान नाडियो और चक्रो मे विश्वास करता था, (२) शिव और जीव की अभि-न्नता मे आस्था रखता था, (३) योग द्वारा चित्त के चाञ्चल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप मे अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था और (४) शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता मे ही विश्वास रखता था।

इसके बाद वाले श्लोक से[4] पता चलता है कि कपालकुण्डला ने जो साधना

---

१ सि० सि० सं० ६३-६५ से तुलनीय।

२ आशिखश्चरण देह यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।
तथाप्यस्य पर स्थान हृत्पकजमुदाहृतम्॥

३ कापालिक सिद्ध कृष्णपद (कानिपा) के पदो की टीका मे नाडियो की सख्या बत्तीस बताई गई है (बौ० गा० दो० पृ० २१) और कहा गया है कि इनमे अवधू-तिका प्रधान है।

४ नित्य न्यस्तषडङ्गचक्रनिहित हृत्पद्ममध्योदितम्।
पश्यन्ती शिवरूपिण लयवशादात्मानमभ्यागता॥

की थी उसमे नाडियो के उदयक्रम से पचामृत का आकर्षण किया था और इसके फल-स्वरूप अनायास ही आकाशमार्ग से विचरण कर सकती थी। टीकाकार ने 'पचामृत' शब्द के भी अनेक अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ है क्षिति-अप् आदि पाँच तत्त्व, दूसरा अर्थ है विंदुस्थान से कुण्डलिनी के स्रावण से क्षरता हुआ रस-विशेष या फिर रसना के नीचे से स्थित रध्र से झरने वाला रस-विशेष। व्यापक होने से उसे 'पच' सख्या से सूचित किया गया है (!), तीसरा अर्थ है . जगत् के शरीर के पाँच अमृत जो शिवशक्ति-यात्मक हैं। ये हैं रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द। लेकिन 'पञ्चामृत' का जो असली अर्थ है उसे टीकाकार ने दिया ही नही। ये पच अमृत शरीर स्थित पाँच द्रवरस हैं—शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आकर्षण करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पाई जा सकती हैं। वज्रयानी साधको मे तथा कौलमार्गी तान्त्रिको मे भी यह विधि है। नाथमार्ग में जो वज्रोली साधना है उसे इस साधना का भग्नावशेष समझना चाहिए।

ऐसा जान पडता है कि अन्यान्य तान्त्रिकों को भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय हैं, उपास्य हैं उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत मे कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय हैं)—'शिवोऽपि शवता याति कुण्डलिन्या विवर्जित' और इसी भाव को ध्यान मे रखकर शकराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' मे कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हो तब भी कुछ करने मे समर्थ हैं नही तो वे हिल भी नही सकते—

> शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्त. प्रभवितु।
> न चेदेव देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तान्त्रिक लोगो का मत है कि परमशिव के न रूप हैं न गुण, और इसीलिये उनका स्वरूप-लक्षण नही बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेति नेति' अर्थात् 'यह भी नहीं, वह भी नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर-शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नही हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति हैं। इस शक्ति की उपासना के बहाने भव-भूति ने कापालिको के मुख से शक्ति के क्रीडन और ताण्डव का बडा शक्तिशाली वर्णन किया है।'[1] शक्तियो से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनु-

---

नाडीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणात्।
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभेऽम्भोमुचः॥

१ सावष्टम्भनिशुम्भसम्भ्रमनमद्भूगोलनिष्पीडन—
न्यञ्चत्कर्परकूर्मकम्पविगलद्ब्रह्माण्डखण्डस्थिति।
पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णव
वन्दे नन्दितनीलकठपरिषद् व्यक्तर्द्धि व क्रीडितम्॥५।२२।

मान असगत नही जान पडता कि कापालिक लोग भी परमशिव को निष्क्रिय-निरजन होने के कारण केवल ज्ञान मार्ग का विषय (ज्ञेय) समझते हैं।

वस्तुत- दसवीं शताब्दी के आसपास लिखी हुई एक दो और पुस्तको मे भी शैव कापालिको का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातो को पुष्ट ही करता है। 'प्रबोध-चद्रोदय' नामक नाटक मे सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। वह मनुष्य की अस्थियो की माला धारण किए था, श्मशान मे वास करता था और नरकपाल मे भोजन किया करता था। योगाजन से शुद्ध दृष्टि से वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (=शिव) से अभिन्न देखा करता था।[1] 'प्रबोध चद्रोदय की चद्रिका' नामक व्याख्या मे 'सौम-सिद्धान्त' नाम का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है उमा-सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा-सहित कैलास मे विहार करते हैं उसी प्रकार कान्ता के साथ विहार करना ही परम मुक्ति है वही सोम-सिद्धान्ती है। स्त्री के साथ विहार करने के सिवा इन लोगो के मत मे अन्य कोई सुख है नही। सदाशिव जब प्रसन्न होते हैं तो ऐसे सुख को दु ख अभिभूत नही करता अतएव वह नित्यसुख कहा जाता है।[2] 'प्रबोधचद्रोदय' से यह भी पता चलता है कि ये लोग चर्बी, आंत आदि सहित मनुष्य के मास की आहुति देते थे, नरकपाल के पात्र मे सुरा-पान करते थे, ताजे मानव-रक्त के उपहार से महा-भैरव की पूजा किया करते थे[3] और उदा कपालिनी (=कपाल-वनिता) के साथ रहा करते थे। मदिरा को ये लोग 'पशुपाश-समुच्छेद कारण' अर्थात् जीव के भवबधन को काटनेवाला समझते थे।

इसी प्रकार राजशेखर कवि की लिखी हुई 'कर्पूर मजरी' मे भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को 'कुलमार्ग लग्न' या कौल सिद्ध कहते थे। 'प्रबोध चद्रोदय' के कापालिक को भी 'कुलाचार्य' कह कर सबोधन किया गया है। 'कर्पूर मजरी' के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधक को न मत्र की जरूरत है, न तत्र की, न ज्ञान की, न ध्यान की यहाँ तक कि गुरुप्रसाद की भी जरूरत नही है।

---

१ नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः
श्मशनिवासी नृकपालभूषण.।
पश्यामि योगाजनशुद्धचक्षुपा
जगन्मियो भिन्नमभिन्नमीश्चरात् ।३।१२

२. तत्र स्त्री-सभोगादि व्यतिरेकेण सुखान्तरनारित। सदा शिवप्रसादमहिम्ना तादृ-शसुखस्य दु.खानभिभूतत्वान्नित्यसुखत्वम्। इति सोम-सिद्धान्तरहस्यम्।

३ मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामासाहुतिर्जुहता
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकठ विगलत् कीलालधारोज्ज्वलै—
रर्च्यो नः पुरुषोपहार लिभिर्देवो महाभैरवः।

वे मद्यपान करते हैं। स्त्रियो के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमे कोई सदेह नही कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणो को हमे उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिको के सबध मे जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटको मे मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव साधक समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त विरचित 'महापुराण' मे अनेकस्थलो पर कापालिको और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हे शैव-योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है।

जालधरपाद का कहा जाने वाला एक अपभ्र श पद राहुलजी को नेपाल मे मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगडी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय मे एक धारणा बनाई जा सकती है। यद्यपि जालधरपाद अक्षयनिरजन-निरालब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगो की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं, तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनद को ही चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप मे समझने लगे थे। इसी भाव के बिताने के लिये वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे, प्रथमान्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नही समझाया जा सकता। यह अनुभववैकगम्य है। इसमें इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्मभाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप मे अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिये कहा है—

---

१ मन्तो ण तन्तो ण अकि पि जाण
 झाण चणो कि पि गुरुप्पसादा।
मज्ज पियामो महिल रमामो
 मोक्ख च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा
 मज्ज मस पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्ज चम्मखड च सेज्जा
 कोलो धम्मो कासणो भोदिरम्मो॥
मुत्ति भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा
 झाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केणकेवलमुमादइएण दिठ्ठो
 मोक्खो सम सुर अकेलि सुरारसेहि॥ कर्पूर मजरी १।२२-२४

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड
पुच्छहि गुरु पावा।

इनना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नही किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिये कुछ भी नही कहा। परन्तु साथ ही, वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि मे ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय मे जो मौन रह गए, वह इसलिए कि यह वाणी से परे था —'जय हो इस कारणरहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चचल पदार्थों मे एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पडा था!

जयति सुखराज एप कारजरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥
—नडपाद की 'सेकोद्देश की टीका' मे सरहपाद का वचन (पृ० ६३)

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योकि इसका न आदि है न अन्त है, न मध्य है, न इसमे अपने का ज्ञान रहता है न पराये का। न यह जन्म है न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने उस प्रकार कहा है—

आइण अन्तण मज्झ णउ,
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महसुह,
णउ पर णउ अप्पाण।
—ज० हि० ले०, पृ० १३

हमने पहले ही देखा है कि जालधरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारो का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धो मे प्रचलित 'चर्यागीति' नामक पुस्तक से से जो पद सग्रह किया है वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताये हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (=सहजानन्द) आच्छन्न नही हो जाता, जो सब के ऊर्ध्व मे और सबके अतीत है वह 'महासुख' है। जालधरपाद ने उस महासुख को अनुभव किया था—

आनन्द परमानन्द विरमा, चतुरानन्द जे सभवा।
परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत सप्रदप्रापिता॥
—गगा, पु०, पृ० २५३

यह महासुख शैव तान्त्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालधरपाद को परवर्ती साहित्य मे शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था मे उनके मत के विषय मे इससे कुछ अधिक कह सकना सभव नहीं है परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय मे कुछ अधिक कह सकना सभव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर सस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। सक्षेप मे, आगे उनके मत का सार सङ्कलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द और जालधरनाथ का जो सवाद उद्धृत किया है[1] वह बहुत परवर्ती जान पडता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से सस्कृत मे रूपान्तरित जान पडता है। हम आगे 'गोरख बोध' के प्रसङ्ग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हुपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहो का एक सग्रह 'दोहा कोष' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक सस्कृत टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डा० बागची ने सम्पादन किया है। इन दोहो के अतिरिक्त 'चर्याचर्यविनिश्चय' मे सस्कृत टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्ही सब के आधार पर नीचे का सकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर मे ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है वही ककाल-दण्ड कहा जाता है, इसे ही मेरु पर्वत कहते हैं क्योंकि श्री सम्पुटतन्त्र मे कहा गया है कि पैरो के तलवे मे भैरवरूप धनुषाकार वायु का स्थान है, कटिदेश मे त्रिकोण उद्धरण है जिसके तीन दलो पर वर्तुलाकार वरुण का वास है और हृदय मे पृथ्वी है जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार ककालदण्ड के रूप मे गिरिराज सुमेरु स्थित है।[3] इसी गिरिराज के कन्दर कुहर मे नैरात्म धातु जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुहर मे स्थित पद्म मे यदि बोधिचित पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि मे बाधा पडती है?[4]

---

१. स० भ० स्ट० जिल्द ६ : पृ० २७।

२. कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका उन्ही की लिखी हो। मेखला वज्रयान-सम्प्रदाय मे बहुत गौरव का पात्र मानी जाती हैं, वे चौरासी सिद्धो मे एक हैं। 'वर्ण रत्नाकार' मे मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है वे यही हैं।

३ स्थित पाद तले वायुर्भैरवोधनुराकृतिः।
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्धरणन्तथा ॥
वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्त्रिदले स्थित ॥
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रा समन्ततः।
ककालदडरूपो हि सुमेरुगिरिराट् तथा ॥

४ वर गिरि कन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्तत्थइ।
विमल सलिल सोसजाइ कालाग्गि पइट्ठइ ॥१४॥—बौ० गा० दो०, पृ० १२७।

क्योकि 'शुक्र सिद्धि' नामक ग्रन्थ मे स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधिचित्त (=शुक्र, नाथ पथियो का विंदु) नीचे की ओर पतित हो और स्कधविज्ञान मूच्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?[1]

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते हैं कि दो प्रकार के सत्य होते हैं—लोकसवृत्ति-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य। लोक मे बोधिचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्र है जब कि पारमार्थिक सत्य मे वह ज्ञातृरूप चित्त है। इसी प्रकार पद्म और वज्र के सावृत्तिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय हैं। परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक हैं जो आगे स्पष्ट होंगे। कृष्णाचार्यपाद के एक पद की टीका मे टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु सप्रदाय के अन्दर नही हैं वे लोग सावृत्तिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीर रूप कमल के मूलभूत बोधिचित्त को 'शुक्र' समझते हैं।[2] कृष्णाचार्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का सकल्प प्रकट किया था। स्कध विज्ञान के मूर्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसीलिये इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौडाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह तात्रिक प्रवृत्ति बौद्ध मार्ग मे प्रविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरजक है। इस विषय मे भदन्त शान्तिभिक्षु ने 'विश्वभारती पत्रिका' मे एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसधित्सु पाठको को वह लेख (वि० भा० प०, खण्ड ४, अक १) पढना चाहिए। यहाँ विकृत विषय से सबद्ध कुछ तथ्यो का सकलन किया जा रहा है, इससे परवर्ती प्रसग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग मे अग्रसर होने की इच्छा रखता है उसके लिये चित्त को वश मे करना परम आवश्यक है। इस चित्त मे यदि कामनाओ के उपभोग न करने का कारण क्षोभ हुआ तो साधना मिट्टी मे मिल जायगी। यही सोचकर अनङ्गवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिससे चित्त क्षुभित न हो। यदि चित्तरत्न सक्षुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नही मिल सकती।[3] फिर यह विक्षोभ दमन कैसे किया जाय ? वासनाएँ दबाने से मरती नही अपितु और भी अन्तस्तल मे जाकर छिप जाती हैं। अवसर पाते ही वे उद्बुद्ध हो जाती है और साधक को दबोच लेती हैं। इसीलिए उनको दबाना ठीक नही। उचित पथा यह है कि समस्त कामनाओ का उपभोग किया जाय तभी शीघ्र चित्त

---

१ पतिते बोधिचित्ते तु सर्वसिद्धि निधान के।
मूर्छिते स्कधविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता ॥

२ गुरुसप्रदायविहीनस्य सैव डोम्बिनी अपरिशुद्धाऽवधूतिका सरोवर कायपुष्कर तन्मूल तदेव बोधिचित्त सवृत्या शुक्ररूत मारयामि ॥–बौ० गा० दो०, पृ० २१।

३. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन ।
सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

का सक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।[1] इस प्रकार कामोपभोग का साधना-क्षेत्र मे प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठभूमि में शून्यवाद था। शून्यता और समस्त अभावो और अभावो से मुक्त नि.स्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओ के उपभोग के लिए स्त्री की आवश्यकता है इसीलिए वज्रयान मे पाँच बुद्धो और अनेक बोधिसत्त्वो की शक्ति कल्पना की गई। सिद्धिप्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिए जो बुद्ध सिद्ध हो गये हैं उनके भी गुरु हैं। यह गुरु शून्यता ही है। जैसे गुड का धर्म माधुर्य है, और अग्नि का धर्म उष्णता है उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म—समस्त स्वभावो का स्वभावशून्यता है।[2] शून्यता का मूर्तरूप वज्रसत्व है। वज्रसत्व वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत इसी शून्य के नाम हैं, यही वज्रधर समस्त बुद्धो के गुरु हैं।

बौद्ध दर्शन मे समस्त पदार्थों को पाँच स्कधो मे विभक्त किया गया है—रूप-स्कध, वेदना स्कध, सज्ञा-स्कध, सस्कार-स्कध और विज्ञान-स्कध। इस शरीर मे भी ये ही पाँच तत्त्व है और पाँचो बुद्ध—वैरोचन, रत्नसभव, अमिताभ, अमोघ-सिद्धि और अक्षोभ्य इन्ही पाँच स्कधो के विग्रह हैं। इन बुद्धो की पाँच शक्तियाँ है, और नाना भाँति के, चिह्न, रग, वर्ण, कुल आदि हैं। इस प्रकार समस्त बुद्धो की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिए शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यता रूप परम प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धो और उनकी शक्तियो की आवासभूमि यह शरीर है। नीचे भदन्त शान्ति भिक्षु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियाँ, रग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ-साधना का या तो पूर्वरूप है, या उससे अत्यधिक सम्बद्ध है।

अब इस मानव शरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ या मेरुदण्ड है। सो इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाडियो से होता हुआ प्राणवायु सचरित होता है। बाईं नासिक से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाडियाँ चलती हैं। (नाथपथियो की इडापिंगला से तुलनीय) जिनमे पहली प्रज्ञा-चद्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपथियो की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशील हैं। मध्यवर्ती नाडी अवधूती है जो नाथपथियो की सुषुम्णा की समशीला है। इस नाडी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का

---

१. दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिद्धयति॥

२ गुडे मधुरता चाग्ने रुष्णत्व प्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्व धर्माणा तथा प्रकृतिरिष्यते॥

ज्ञान नहीं रहता इसीलिये अवधूती नाडी ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है।[1] मेरुगिरि के शिखर का महासुख का आवास है जहाँ एक चौंसठ दलो का कमल है। यह कमल चार मृणालो पर है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार चार दल हैं—इस प्रकार यह (४×४×४) चौंसठ दलो का कमल (पद्म) हैं जहाँ वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का।[2] इन चार मृणालो के दलो को शून्य, अतिशून्य, और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णीषकमल है, यही डाकिनी जालात्मक

पच स्कध	पचतथा गत या ध्यानी बुद्ध	रग	वर्ण	चिह्न	पाँच कुल	शक्तियाँ	शक्तियो के दूसरे नाम	तत्त्व	रग (तत्त्वो के)	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुल्क	कवर्ग	शुल्क चक्र	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	शुल्क	चक्र
वेदना	रत्न-सभव	पीत	टवर्ग	रत्न	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नील कमल
सज्ञा	अमि-ताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डर बासिनी	तेज	रक्त	पद्म
सस्कार	अमोघ सिद्धि	श्याम	पवर्ग	वज्र	वज्र	वज्ररति	. .	. . .	. .	
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	चवर्ग	कृष्ण वज्र	द्वेष	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्ण व्रज
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुल्क	अन्त· स्थ	वज्र-घटा			प्रज्ञापरि मिता			

---

१ हे वज्र मे सरोरुहपाद ने कहा है—
ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसस्थिता।
अवधूती मध्यदेशेतु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥

२ ललना रसना रविशशि तुडिआ वेनवि पासे।
चउपत्तर चउक्कम चउमृणाल ठ्थिअ महासुहवासे॥५॥
एव काल वीअलइ कुसुमिअ अरविन्दए।
महुअरुए सुरअवीर सिंघप मअरन्दए॥६॥

—बौ० गा० दो, पृ० १२४

जालधर गिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यही महासुख का आवास है।[1] इसी गिरि पर शिखर पर पहुँचने पर योगी स्वय वज्रधर कहा जाता है, यही वह सहजानन्द रूप महासुख को अनुभव करता है।[2]

ऊपर जो चार प्रकार के आनन्द बताए गए हैं उनमे प्रथम आनन्द कायात्मक है अर्थात् शारीरिक आनन्द है, दूसरे और तीसरे वाचात्मक और मानसात्मक हैं। अन्तिम आनन्द ज्ञानात्मक है और इसीलिये सहजानन्द कहा जाता है। इसी आनन्द मे महासुख की अनुभूति होती है।

यह लक्ष्य करने की बात है कि इस समय भी नाथमार्ग मे विशेष-विशेष चक्रो के नाम जालधर और उड्डियानपीठ है। परन्तु गोरक्षनाथ के मत मे जालधरपीठ वाला चक्र अन्तिम चक्र नही है। आधुनिक नाथपथियो के षट्चक्रो मे जो पाँचवाँ विशुद्ध चक्र है वह सोलह दलो का माना गया है। इसके स्फटिक वर्ण की कर्णिका मे वर्तुलाकार आकाशमण्डल है जिसमे निष्कलक पूर्ण चन्द्रमा है इसी के पार्श्व मे शाकनी सहित सदाशिव हैं। यह जालधर पीठ कहलाता है,[3] छठा आज्ञाचक्र है। इसके दो दल हैं और कर्णिका मे हाकिनी-सहित शिव हैं इसी को उड्डियान भी कहते हैं।[4] कृष्णपाद ने डाकिनी-युगलात्मक जालधर पीठ की बात कही है। इन दिनो तान्त्रिको और नाथ मार्गियो के विश्वासानुसार डाकिनी के अध्युषित चक्र मूलाधार है जो बिल्कुल प्रथम चक्र है[5] इस प्रकार परवर्ती विश्वास कृष्णाचार्यपाद के सिद्धान्तो को और भी आगे बढाकर बनाया हुआ जान पडता है। उन दिनो बौद्ध साधक भी शिव को उपास्य मानते थे, इसका प्रमाण भी पुराने ग्रथो से मिल सकता है।[2]

---

१ शून्यातिशून्य महाशून्यसर्वशून्यमिति चतु· शून्य स्वरूपेण पत्रचतुष्टय चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसस्थिता। कुत्रेत्याह। महासुख वसत्यस्मिन्निति महासुखवासे उष्णीषकमल तत्र सर्वशून्यालयो डाकिनी जालात्मक जालधराभिधान मेरुगिरि-शिखर मित्यर्थः। —वही, पृ० १२४

२. एहु सो गिरिवर कहिअ मरिएहु सो महासुह पाव।
एत्थुरे निसग्ग सहज खगुन हइ महासुह जाव ॥२६॥

३-४. गो० प० : पृ० १५।

५. वसेदत्र देवीच डाकिन्यभिख्या
लसद्वाहुवेदोज्ज्वल रक्तनेत्रा।
उमानोदितानेक सूर्यप्रकाशा
प्रकाश वहन्ती सदाशुद्धबुद्धे ॥ —षट्चक्र निरूपण-७

६ मालती माधव की बौद्धसाधिका सौदामिनी आकाश पथ से विचरण करती जब उस स्थान पर आती हैं, जहाँ मधुमती और सिंधु नदी के सगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुषेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णबिंदु है, तो भक्तिपूर्वक शिव को प्रणाम करती हैं :—

अवधूती नाडी डोम्बिनी या डोमिन है और चचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से यह अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयो का जजाल मानो एक नगर है और अवधूती रूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहती है। जब कृष्णपाद ने गाया है कि हे डोमिन तुम्हारी कुटिया नगर के बाहर है, छुआछूत से ब्राह्मण भागा फिरता है तो उनका तात्पर्य उसी अवधूती वृत्ति से है। वे कहते हैं कि 'डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर ही रहो पर निघृ'ण कापालिक कान्ह (कानपा) तुम्हें छोड़ेगा नही, वह तुम्हारे साथ ही सग करेगा।' जब वे कहते हैं कि चौसठ पखडियो के दल पर डोमिन नाच रही है[1] तो उनका मतलब उसी महा मेरुगिरि के जालधर नामक शिखर पर स्थित उष्णीष कमल से है। इसी प्रकार जब वह कहते हैं कि मत्र-तत्र करना बेकार है केवल अपनी घरनी को लेकर मौज करो तो[2] उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने का होता है।

एक बार प्राण-वायु का निरोध करके यदि योगी इस मेरु शिखर पर वास कर सकता तो निस्तरग सरोवर की भाँति उसकी वृत्तियो के रुद्ध होने से वह सहजस्वरूप को प्राप्त होता है। सहजरूप अर्थात् पाप और पुण्य—विराग और राग—दोनो से रहित दोनों के अतीत। श्रीमद् आदि बुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढकर पाप नही है, और राग से बढ़कर पुण्य नही[3] सो कृष्णपाद ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य वचन कहा है—

"अयच मधुमती सिंधु सभेदपावनो भगवान् भवानीपतिपौरुषेयप्रतिष्ठ सुवर्ण-विदुरित्याख्यायते। (प्रणम्य)

जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिधे।
जय रुचिरचद्रशेखर जय मदनन्दक जयादिगुरो।" —मा० मा० ८।४

1 नगरे बाहिरें डोम्बि तोहारि कुडिआ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाडिया॥
आलो डोम्बि तोए सँग करिबे म साँग।
निघ्घन कान्ह कापालि जोइ लाँग॥
एक सो पदमा चौपट्ठी पाखुडी।
तहि चढि नाचअ डोम्बि बाबुडी॥ —पद १०, चर्या० पृ० ।८।

२. एक्क न किज्जइ मत न तत
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त।
णिअ घर घर्रणी जवण मज्जइ
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥२८॥ —बौ० गा० दो० पृ० १३१

३ विरागान्नपर पाप न पुण्य सुखतः परम्।
अतोऽक्षर सुखे चित निवेश्य तु सदा नृप॥

नितरग सम सहजरुअ सअल करुष विरहिते ।
पाप पुण्य रहिए, कुच्छ नाहि फुल कान्हु कहिए ॥१०॥

यह साधना नाथ-मार्गियो के साधना से बहुत-कुछ मिलती है । हम आगे चल-कर देखेंगे कि नाथ-सिद्ध भी इसी भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं ।

८

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)

विक्रम सवत् की दसवी शताब्दी मे भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महा-पुरुष भारतवर्ष मे दूसरा नही हुआ। भारतवर्ष के कोने कोने मे उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरख-नाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नही है जिसमे गोरक्षनाथ संबधी कहानियाँ न पाई जाती हो। इन कहानियो मे परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है परन्तु फिर भी इनमे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है—गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बडे नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्य-वश इस महान धर्मगुरु के विषय मे ऐतिहासिक कही जाने लायक बाते बहुत कम रह गई हैं। दन्तकथाएँ केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग के महत्त्व-प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नही देती।

उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नही चलता। परम्पराएँ अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती हैं और इसीलिए भिन्न-भिन्न अन्वेषको ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानो को उनका जन्मस्थान मान लिया है। 'योगि सप्रदाया विष्कृति' मे उन्हे गोदावरी तीर के किसी चद्रगिरि मे उत्पन्न बताया गया है।[1] नेपाल दरबार लाईब्रेरो मे एक परवर्ती काल का 'गोरक्ष सहस्रनामस्तोत्र' नामक छोटा सा ग्रथ है। उसमे एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा मे कोई वडव नामक देश है वही महामत्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रादुर्भूत हुए थे।[2] सभवतः इस श्लोक मे उसी परम्परा की ओर इशारा है जो 'योगिसप्रदाया विष्कृति' मे पाई जाती है। श्लोक मे का वडव शायद, गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो सकता है।

---

१. य० सं० आ० : पृ० २३।

२ अस्ति याम्या (? पश्चिमाया) दिशिकश्चिद्देश. वडव सज्ञक.।
तत्राजनि महाबुद्धिर्महामत्र प्रसादत.।

—कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ६४

क्रुक्स ने[1] एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन ने भी उद्धृत किया है।[2] जिसमे कहा गया है कि गोरक्षनाथ सत्ययुग मे पजाब के पेशावर में, त्रेता मे गोरखपुर मे, द्वापर मे द्वारका के भी आगे हुरमुज मे और कलिकाल मे काठियावाड की गोरख-मढी मे प्रादुर्भूत हुए थे। बगाल मे यह विश्वास किया जाता है कि गोरक्षनाथ उसी प्रदेश मे उत्पन्न हुए थे। नेपाली परम्पराओ से अनुमान होता है कि वे पजाव से चल कर नेपाल गए थे। गोरखपुर के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि गुरु गोरख-नाथ टिला (झेलम-पजाब) से गोरखपुर आए थे[3] नासिक के योगियो का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पजाब आए थे और बाद मे नासिक की ओर गए थे। टिला का प्राधान्य देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि वे सभवत. पजाब के निवासी रहे होंगे।[4] कच्छ मे प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ गए थे। ग्रियर्सन ने इन्हे गोरखनाथ का सतीर्थ कहा है[5] परन्तु वस्तुत. धरमनाथ बहुत परवर्ती हैं। ग्रियर्सन ने अन्दाज लगाया है कि गोरक्षनाथ सभवत. पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। इन्होने नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से निकालकर शैव बनाया था। ब्रिग्स का अनुमान है कि गोरक्षनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद मे शैव हुए थे। हमने मत्स्येद्रनाथ के प्रसग मे इस मत को और एतत्सम्बन्धी तिब्बती परम्परा की जाँच की है। तिब्बती परम्पराएँ बहुत परवर्ती हैं और विकृतरूप मे उपलब्ध हैं, उनको बहुत अधिक निर्भरयोग्य समझना भूल है। मेरा अनुमान है कि गोरक्षनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति मे उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण मे बडे हुए थे। उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हो। मेरे अनुमान का कारण गोरक्षनाथी साधना का मूल सुर है जिसकी चर्चा हम इसी प्रसग मे आगे करने जा रहे हैं।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रन्थ चलते हैं जिनमे अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सदेहास्पद हैं। सब मिला कर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तके नाना-भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमे कुछ-न-कुछ गोरक्षनाथ की वाणी रह जरूर गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नही है। इन पुस्तको पर से कई विद्वानो ने गोरखनाथ का स्थान और कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। कबीरदास के साथ गोरखनाथ की बातचीत हुई थी, और उस बात-चीत का विवरण बताने वाली पुस्तक उपलब्ध है इस पर से एक बार ग्रियर्सन तक ने अनुमान

---

१. ट्रा० का० : पृ० १५३-४।
२ इ० रे० ए० : ह० ३२८।
३. यो० स० आ० (अध्याय ४८) से इसी मत का समर्थन होता है।
४. ब्रिग्स. पृ० २२६।
५. इ० रे० ए० : पृ० ३२८।

किया था कि गोरखनाथ चौदहवी शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ भी उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और, और तो और सत्रहवी शताब्दी के जैन दिगम्बर सन्त बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसग भी मैंने सुना है। टेसिटरी ने बनारसीदास जैन की एक पुस्तक गोरखनाथ की (?) वचन का भी उल्लेख किया है।[1] इन बातचीतो का ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है। ज्यादा से ज्यादा इनकी व्याख्या साम्प्रदायिक महत्त्व प्रतिपादन के रूप मे ही की जा सकती है। या फिर आध्यात्मिक रूप मे इसकी व्याख्या यो की जा सकती है कि परवर्ती सन्त ने ध्यान बल से पूर्ववर्ती सन्त से उपदिष्ट मार्ग से अपने अनुभवो की तुलना की है। परन्तु उन पर से गोरखनाथ का समय निकालना निष्फल प्रयास है। कबीरदास के साथ तो मुहम्मद साहब की बातचीत का व्योरा भी उपलभ्य है तो क्या इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीरदास और हजरत मुहम्मद समकालीन थे? वस्तुत गोरखनाथ को दसवी शताब्दी का परवर्ती नही माना जा सकता। मत्स्येद्रनाथ के प्रसग मे हमने इसका निर्णय कर लिया है।

गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थो के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर बहुधाविस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामजस्य से चक्रो की सख्या नियत की, उन दिनो अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दो के सावृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार सस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यो का त्यो बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमाद पूर्ण रूढियाँ परिष्कृत हो गईं। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलभ्य सामग्री से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली लोकभाषा के पुस्तको मे कौन-सी प्रमाणिक हैं और उनकी भाषा का विशुद्ध रूप क्या है तथापि इसमे सन्देह नही कि उन्होंने अपने उपदेश लोकभाषा मे प्रचारित किए थे। कभी-कभी इन पुस्तको की भाषा पर से भी उनके काल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयास भी निष्फल है।

गोरक्षनाथ की लिखी हुई कही जाने वाली निम्नलिखित सस्कृत पुस्तकें मिलती हैं। इनमे से कई को मैंने स्वय स्वय नहीं देखा है, भिन्न-भिन्न ग्रन्थ सूचियों और आलोचनात्मक अध्ययनों से सग्रह भर कर लिया है। जिनको देखा है उनका एक संक्षिप्त विवरण भी दे दिया है। अनदेखी पुस्तको के नाम जिस मूल से प्राप्त हुए हैं उनका उल्लेख कोष्ठक मे पुस्तक के सामने कर दिया गया है।

---

१ इ० ऐ० ए० ११वाँ जिल्द, पृ० ८३४।

१. **अमनस्क**—एक प्रति वडोदा लाइब्रेरी मे है। गो० सि० स० मे वहुत से वचन उद्धृत हैं।

२ **अमरौघशासनम्**—श्री मन्महामाहेश्वराचार्य श्री सिद्ध गोरक्षनाथ विरचितम् यह पुस्तक काश्मीर सस्कृत ग्रथावलि (ग्रथाङ्क २०) मे प्रकाशिन हुई है। महामहोपाध्याय प० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका सपादन किया है। यद्यपि यह पुस्तक सन् १६१८ ई० मे ही छप गई थी, परन्तु आश्चर्य यह है कि गोरक्षनाथी साहित्य के अध्ययन करने वालो ने इमकी कोई चर्चा नही की। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमे गोरक्षनाथ के सिद्धान्त का सूत्ररूप मे सकलन है। यह पुस्तक हठयोग की साधना शैवागमो मे सम्बन्ध और जोडती है। आगे इसके प्रतिपादित सिद्धान्तो का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

३. **अवधूतगीता**—गो० सि० स० पृ० ७५ मे गोरक्षकृत कही गई है।

४ **गोरक्षकल्प**—(फर्कुहर, ब्रिग्स)

५ **गोरक्षकौमुदी**—(फर्कुहर, ब्रिग्स)

६. **गोरक्षगीता**—(फर्कुहर)

७. **गोरक्षचिकित्सा**—(आफ्रेख्ट)

८. **गोरक्षपञ्चय**—(ब्रिग्स)

६ **गोरक्ष पद्धति**—दो सौ सस्कृत श्लोको का सग्रह। बवई से महीधर शर्मा की हिंदी टीका समेत छपी है। इसका प्रथमशतक 'गोरक्षशतक' नाम से कई बार छप चुका है। इसी का नाम 'गोरक्षज्ञान' भी है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र भी बताया गया है।

१० **गोरक्ष शतक**—ऊपर न० ७ का प्रथम शतक। इसकी एक प्रति पूना से छपी मिली है। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक मे इसको रोमन अक्षरो मे छापा है और उसका अग्रेजी अनुवाद भी दिया है। इनके मत से यह पुस्तक गोरक्षनाथ की सच्ची रचना जान पडती है। डाक्टर प्रबोधचद्र वागची ने 'कौलावलि निर्णय' की भूमिका मे नेपाल दरबार लाइब्रेरी के एक हस्तलिखि ग्रथ का ब्यौरा दिया है। नेपाल वाली पुस्तक छपी हुई पुस्तको से भिन्न नही है।

इस पर दो टीकाएँ हुई हैं। एक शकर पडित की और दूसरी मथुरानाथ शुक्ल की। दूसरी टीका का नाम टिप्पण है (ब्रिग्स)। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं, (१) 'ज्ञानप्रकाश' और (२) 'ज्ञानप्रकाश शतक' (आफेख्ट)।

११. **गोरक्षशास्त्र**—दे० न० ६

१२ **गोरक्ष सहिता**—प्राय. सभी सूचियो मे इस पुस्तक का नाम आता है। प० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने इस पुस्तक को स १८८७ मे छपाया था। परन्तु अब यह पुस्तक खोजे नही मिलती। डा० बागची ने 'कौलावलि निर्णय' की भूमिका मे नेपाल दरबार लाइब्रेरी मे पाई गई प्रति मे से कुछ अश उद्धृत किया है। पुस्तक के कितने ही

श्लोक हू-बहू मत्स्येन्द्रनाथ के 'अकुलवीर तंत्र' नामक ग्रन्थ से मिल जाते हैं और दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है। इस प्रकार यह पुस्तक काफी महत्त्वपूर्ण है।

१३ चतुरशीत्यासन—(आफ़्रेक्ट)

१४ ज्ञानप्रकाशशतक—(दे० नं० १०)

१५ ज्ञानशतक—(दे० १०)

१६ ज्ञानामृतयोग—(आफ़्रेक्ट)

१७ नाडीज्ञानप्रदीपिका—(आफेक्ट)

१८ महार्थमंजरी—यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० ११) में छपी है। यह किसी महेश्वरानंद नाथ की लिखी हुई है। काश्मीरी परंपरा के अनुसार ये गोरक्षनाथ ही हैं। पुस्तक म० म० प० मुकुन्दराम शास्त्री ने संपादित की है। इस पर भी लिखा है—'गोरक्षापर पर्याय श्रीमन्महेश्वरानंदाचार्य विरचिता'। पुस्तक की भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है परन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। विषय ३६ तत्त्वों की व्याख्या है। नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९. योगचिन्तामणि—(आफेक्ट)

२० योगमार्तण्ड—(,,)

२१ योगबीज—गो० सि० सं० में अनेक वचन उद्धृत हैं

२२ योगशास्त्र—(दे० नं० ७)

२३ योगसिद्धासनपद्धति—(आफेक्ट)

२४ विवेकमार्तण्ड—इस पुस्तक के कुछ वचन 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में हैं। उसके श्लोक 'गोरक्ष शतक' में पाए जाते हैं। इसलिये यद्यपि इसे रामेश्वर भट्ट का बताया गया है तो भी आफेक्ट के अनुसार इसे गोरक्षकृत ही मानना उचित जान पड़ता हैं।

२५ श्रीनाथसूत्र—गो० सि० सं० में कुछ वचन हैं।

२६ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—ब्रिग्स ने नित्यानंद रचित कहा है पर अन्य सबने गोरक्षनाथ रचित बताया है। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में भी इसे नित्यनाथ विरचिता कहा गया है (पृ० ११)।

२७ हठयोग—(आफेक्ट)

२८ हठसंहिता—(,,)

इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे। साधारणतः उनके उपदेशों को नये-नये रूप में वचनबद्ध किया गया है। परन्तु १, २, ९, १२ और २६ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी १ को मैंने देखा नहीं, केवल गोरक्ष-सिद्धांत में संगृहीत वचनों से उसका परिचय पा सका हूँ। 'सिद्ध-सिद्धांत पद्धति' को संक्षिप्त करके काशी के बलभद्र पंडित ने एक छोटा-सी पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है 'सिद्ध-सिद्धांत संग्रह'। इसमें तथा गोरक्ष सिद्धांत संग्रह में जिसका नाम है 'सिद्ध-सिद्धांत संग्रह'। इसमें तथा गोरक्ष सिद्धांत में सिद्ध सिद्धांत पद्धति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। इन सबके

आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस विषय मे गोरक्ष सिद्धात सग्रह बहुत ही उपयोगी पुस्तक है।

इन पुस्तको के अतिरिक्त हिन्दी मे भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। इनका सपादन बडे परिश्रम और बडी योग्यता के साथ स्वर्गीय डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने किया है। यह ग्रथ 'गोरखबानी' नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग अभी तक प्रकाशिम नही हुआ और अत्यन्त दु ख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही मेधावी ग्रथकार ने इह लोक त्याग दिया। डॉ० बडथ्वाल की खोज से निम्नलिखित चालीस पुस्तकों का पता चला है जिन्हें गोरखनाथ-रचित बताया जाता है,

१. सवदी	२१ नवग्रह
२ पद	२२ नवरात्र
३ सिष्या दरसन	२३ अष्ट पारछ्या
४. प्राण सकली	२४ रहरास
५ नरवै बोध	२५ ग्यान माला
६. आत्मबोध (१)	२६. आत्मबोध (२)
७ अभैमात्रा जोग	२७. व्रत
८ पद्रहतिथि	२८. निरजन पुराण
९ सप्तवार	२९ गोरखबचन
१०. मछीन्द्र गोरख बोध	३० इन्द्री देवता
११ रोमावली	३१ मूल गर्भावली
१२ ग्यान तिलक	३२. खाणी वाणी
१३ ग्यान चौंतीसा	३३ गोरख सत
१४ पचमात्रा	३४. अष्टमुद्रा
१५ गोरख गणेश गोष्टी	३५ चौबीस सिधि
१६ गोरखदत्त गोष्टी (ग्यान दीपबोध)	३६ षडक्षरी
१७ महादेव गोरखगुष्टि	३७ पचअग्नि
१८ सिष्ट पुरान	३८ अष्टचक्र
१९. दयाबोध	३९ अवलि सिलूक
२०. जाती भौंरावली (छद गोरख)	४०. काफिर बोध

डा० बडथ्वाल ने अनेक प्रतियो की जाँच करके इनमे प्रथम चौदह को तो निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना क्योकि इनका उल्लेख प्राय सब मे मिला। ग्यान चौंतीसा समय पर न मिल सकने के कारण इन सग्रह मे प्रकाशित नही कराया जा सका परन्तु बाकी तेरह गोरखनाथ की बानी समझकर पुस्तक मे सग्रहीत हुए हैं। १५ से १९ तक की प्रतियो को एक प्रति मे सेवादास निरजनी की रचना माना गया है। इसलिए सदेहास्पद समझकर सपादक ने उन्हें परिशिष्ट 'क' मे छापा है। बाकी मे कुछ गोरखनाथ की

स्तुति है। कुछ अन्य ग्रंथकारों के नाम भी हैं, काफिर बोध कबीरदास के नाम भी है इसलिए डा० बड़थ्वाल ने इस संग्रह में उन्हें स्थान नहीं दिया। केवल परिशिष्ट 'घ' में सप्तवार, नवग्रह, व्रत, पंचअग्नि, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, बत्तीस लक्षण, अष्टचक्र, ग्रहरसि को स्थान दिया है। 'अवलिसिलूक' और 'काफिर बोध' रतननाथ के लिखे हुए हैं। डा० बड़थ्वाल इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सबदी' गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नहीं जितनी गोरखबोध।[1] गोरखबोध की सबसे पहले छपी हुई एक खण्डित प्रति कार्माइकेल लाइब्रेरी, काशी में है जो सन् १८११ में चौक का फाटक बनारस से छपी थी। बाद में इसे जयपुर पुस्तकालय ने संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक में प्रकाशित की है। डा० मोहनसिंह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांतों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु मत्स्येंद्रनाथ के उपलब्ध ग्रंथों के आलोक में डाक्टर मोहनसिंह का मत बहुत ग्रहणीय नहीं लगता। डाक्टर बड़थ्वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे में विशेष रूप से लिखने का वादा किया था पर महाकाल ने उसे पूरा नहीं होने दिया। परन्तु अपने भावी मत का आभास उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दे रखा है 'नाथपरंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान है, जिससे कहा जा सकता है कि संभवत. इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।[2]

आगे इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम गोरखनाथ के उपदेशों का सार संकलन कर रहे हैं।[3]

---

१. गोरखबानी : भूमिका पृ० १८-१९।

२ गोरखबानी · भूमिका पृ० २०।

३. उपरिलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त शिवानन्द सरस्वती का 'योग चिंतामणि,' रामेश्वर भट्ट का 'विवेक मार्तण्ड योग', सुन्दरदेव की 'हठ संकेत चन्द्रिका,' स्वात्माराम की 'हठयोग प्रदीपिका' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका और उमापति का टिप्पण, ब्रह्मानन्द की 'ज्योत्स्ना', चण्ड कापालिक की 'हठरत्नावली', शिव का 'हठयोग चौराय' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका, वामदेव का 'हठयोग विवेक', सदानन्द का 'ज्ञानामृत' टिप्पणी, कण्डारभैरव का 'ज्ञान योग खंड', सुन्दरदेव की संकेत चन्द्रिका, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, निरंजन पुराण इत्यादि ग्रन्थ इस मार्ग के सिद्धान्त और साधनपद्धति के अध्ययन में सहायक हैं।

६

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसग मे शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वो का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल मे इन समस्त तत्त्वो को नि शेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव मे तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसीलिये 'वामकेश्वरतन्त्र' मे भगवती शक्ति को "कवलीकृतानि शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी" कहा गया है (४।५)।

इस अवस्था मे शिव मे कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के सचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं। और अव्यक्तावस्था मे विराजमान रहते हैं। इसीलिये इस अवस्था मे उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वय' कह कर स्मरण करते हैं।[1]

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छी होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। पहले वताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था मे परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनो मे कोई भेद नही है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओ से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परम शिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती' और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था मे शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपर पद्म्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमश (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त मे (५) चेतनशीला हाकर अपने अलगाव के बारे मे पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा

---

१ कार्यकारणकर्तृत्व यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्त परम तत्त्व स्वय नाम तदा भवेत ॥

—सि० सि० स० १।४।

न्तिक कल्पना से भिन्न है। यहाँ कुण्डली या शक्ति को 'चिच्छीला'[१] और चिद्रूपिणी माना गया है। यह चिच्छक्ति अनन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप मे परिणत होती है। इसी की सहायता से परम शिव सृष्टि व्यापार के सभालने मे समर्थ होते हैं और इसीलिये 'वामकेश्वरतत्र' मे स्वय भगवान् शकर ने ही कहा है कि हे परमेश्वरि, इस शक्ति स रहित होने पर शिव कुछ भी करने मे असमर्थ है, इससे युक्त होकर ही वे कुछ करने मे समर्थ होते हैं।[२]

इसके बाद कुण्डली अर्थात् समस्त विश्व मे प्रव्याप्त शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिये क्रमश. स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। इन तीनो तत्त्वो की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जो इसके बाद क्रमश स्फुरित होते है। ये हैं—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या। सदाशिव अह प्रधान है और ईश्वर इद प्रधान, शुद्ध विद्या उभय प्रधान। सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिये इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओ के भीतर से होती है। इन अवस्थाओ को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्ही आनन्दो के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमश. 'जीव'—रूप की ओर अग्रसर होते हैं। 'सिद्ध-सिद्धान्त सग्रह' मे बताया गया है कि किस प्रकार पर-पिण्ड, से आद्य-पिण्ड, उससे साकार पिण्ड, उससे महासागार पिण्ड, उससे प्राकृत-पिण्ड और उसके भी अन्त मे गर्भ-पिण्ड उत्पन्न होता है।[४] ये क्रमश. स्थूल से स्थूलतर होते जाते हैं। अन्तिम

---

१ चिच्छीला कुण्डलिन्यत.,—सि० सि० स० १।६

२ परोहि शक्तिरहित. शक्त: कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परेमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ।।४।६।।

३ (१) अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तविश्वमातृतास्वभाव सदाशिवाख्यतत्त्वम्। एतद्विपर्ययेण क्रिया शक्तयौ ज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसधातृरूपम् ईश्वर तत्त्वम्।—महार्थ मञ्जरी पृ० ४४।
(२) ज्ञातृत्वधर्मआत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहार:।
एकरसा सस्कृष्टि यत्र गतौ सा खलु विस्तुषा विद्या ।।—महार्थ मंजरी पृ० ४६।

४ 'सिद्ध सिद्धान्त सग्रह' मे पच्चीस पच्चीस तत्त्वो मे इस प्रकार पिण्डोत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है.
(१) अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ हैं जिसमे प्रत्येक के पाँच गुण हैं—
१ निजा—निराकृतित्वि, नित्यत्व, निरन्तत्व, निष्पदत्व, निरुत्थत्व।
२ परा—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व, अनन्तत्व, अव्यक्तत्व।
३ अपरा—स्फुरन्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता, स्फूर्ति।
४. सूक्ष्मा—नैरतर्य वैरश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पकत्व।

पुष्पिका मे लिखा है कि यह छ· प्रकार की पिण्डोत्पत्ति है। परन्तु वस्तुत· उसमे

(५) क—अन्त:करण के धर्म

१, मन—सकल्प, विकल्प, जड़ता, मूर्च्छना, मनन।

२ बुद्धि—विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति, क्षमा।

३ अहकार—मान, समता, सुख, दु ख, मोह।

४ चित्त—मति, धृति, सस्मृति, उत्क्रति स्वीकार।

५ चैतन्य—विमर्ष, हर्ष, धैर्य, चिन्तन, नि·स्पृहता।

ख—कुल पञ्चक २५ तत्त्व

सत्व—दया दर्म, क्रिया, भक्ति, श्रद्धा।

रज·—दान, भोग, शृ गार, स्वार्थ, ग्रहण।

तम—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा, क्रूरता।

काल—विवाद, कलह, शोक, बन्ध, वचन।

जीव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुरीयातीत।

२५ यत्त्व

ग—व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

१. इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा।

२. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय।

३, माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्त्तव्य, असत्य।

४. प्रकृति—आशा, तृष्णा, काक्षा, स्पृहा, मृषा।

५, वाक्—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, दृष्टाक्षरमातृका।

२५ गुण

घ—प्रत्यक्षकारी गुण

१. काम—रति, प्रीति, लीला, आतुरता, अभिलाषा।

२ कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत।

३ अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चलत्व, उन्माद, विलेपन।

४. चन्द्र—स्रवन्तिका, नामवती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना।

५ अर्क—तपिनी, ग्रसिनी, क्रूरा, कुञ्चनी, शोषणी, वोधिनी, घस्मरा, कर्षिणी, अर्थतुष्टिवर्धिनी, ऊर्मिरेखाकिरणिनी, प्रभावती।

(६) दशद्वार, ७२ हजार नाडियाँ, पच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का गर्भपिण्ड।

क—दशद्वार—मुख कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो), वायु, उपस्थ और ब्रह्मरध्र।

ख—प्रधान दस नाडियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्तिजिह्वा, शखिनी पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी और कुहू।

ग-घ—चक् और आधार का विचार आगे किया गया है।

कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति दी हुई है। यह विचारणीय ही रह जाता है कि ये छ पिण्ड वस्तुत क्या हैं। महामहोपाध्याय प० गोपीनाथजी कविराज ने 'सिद्ध सिद्धान्त सग्रह' की भूमिका मे लिखा है कि ये छः पिण्ड इस प्रकार के हैं—

१ पर या आद्य-पिण्ड
२ साकार-पिण्ड
३. महासाकार-पिण्ड
४ प्राकृत-पिण्ड
५ अवलोकन-पिण्ड
६ गर्भ-पिण्ड

'सिद्ध सिद्धात पद्धति' के आधार पर स० १८८१ वि० मे मारवाड-नरेश महाराणा मानसिह के राज्यकाल मे २४ चित्र वनवाये गये थे। ये चित्र "देशी कागज की वनी करीव ४ फुट, लम्वी, १½ फुट चौडी और ३/१० इच मोटी दफ्ती पर वने हैं" और आज मे सवा सौ वर्ष पहले के राजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूजियम मे सुरक्षित हैं। सन् १९३५ ई० मे पडित विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने इन चित्रो का विवरण एक चोटी सी पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित कराया था। हम जिस वात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रो के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा से यहाँ उक्त विवरणपुस्तिका के कुछ चित्रो के परिचयो का सकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिये कि 'सिद्ध सिद्धान्त सग्रह' वस्तुत इस पुस्तक का ही संक्षिप्त रूप है। मूलग्रथ 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' ही है।

दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदि पिंड का वताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(२) त्रिगुणात्मक आदि-पिण्ड। आदि पिण्ड से (नील वर्ण) महा आकाश का, महा आकाश से (धूम्रवर्ण) महावायु का, महा-वायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महा-तेज से (श्वेतवर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीतवर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पचमहा-तत्वो से महासाकार पिण्ड का और उससे (१) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से, (२) भैरव का, भैरव से, (३) श्रीकण्ठ का श्रीकण्ठ से,(४) सदाशिव का, सदाशिव से, (५) ईश्वर का, ईश्वर से, (६) रुद्र का, रुद्र से, (७) विष्णु का, और विष्णु से, (८) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारी रूप, (९) प्रकृति पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है—

(३) नर नारी के सयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप। 'सिद्ध सिद्धान्त सग्रह' से और 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के आधार पर वने हुए इन चित्रो के विवरण से ऐसा जान पडता है कि प्रथम पिण्ड-पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य-पिण्ड वस्तुत उसके वाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महासाकार पिण्ड भी अलग अलग नही जान पडते। साकार पिण्ड को ही

पर शिव
शिव
शक्ति
पर पिण्ड (१)
(२) सदा शिव
अह (मैं)
इद (यह)
अह (मैं)
इद (यह)
ईश्वर(४)
आद्य पिंड (२)
अह (मैं)
इद(यह)
शुद्धविद्या (५)
(६) माया
तच कचुक (७-११)
साकार पिंड (३)
पुरुष (१२)
अह (मैं)
इद (यह)
प्रकृति (१३)
(१४) महान्
अहकार (१५)
(१६-२०) पच तन्मात्र
प्राकृत पिंड (४)
एकादश इन्द्रिय (२१-३१)
पच भूत (३१-३६)
(५) अवलोकन पिण्ड
गर्भ पिंड (६)
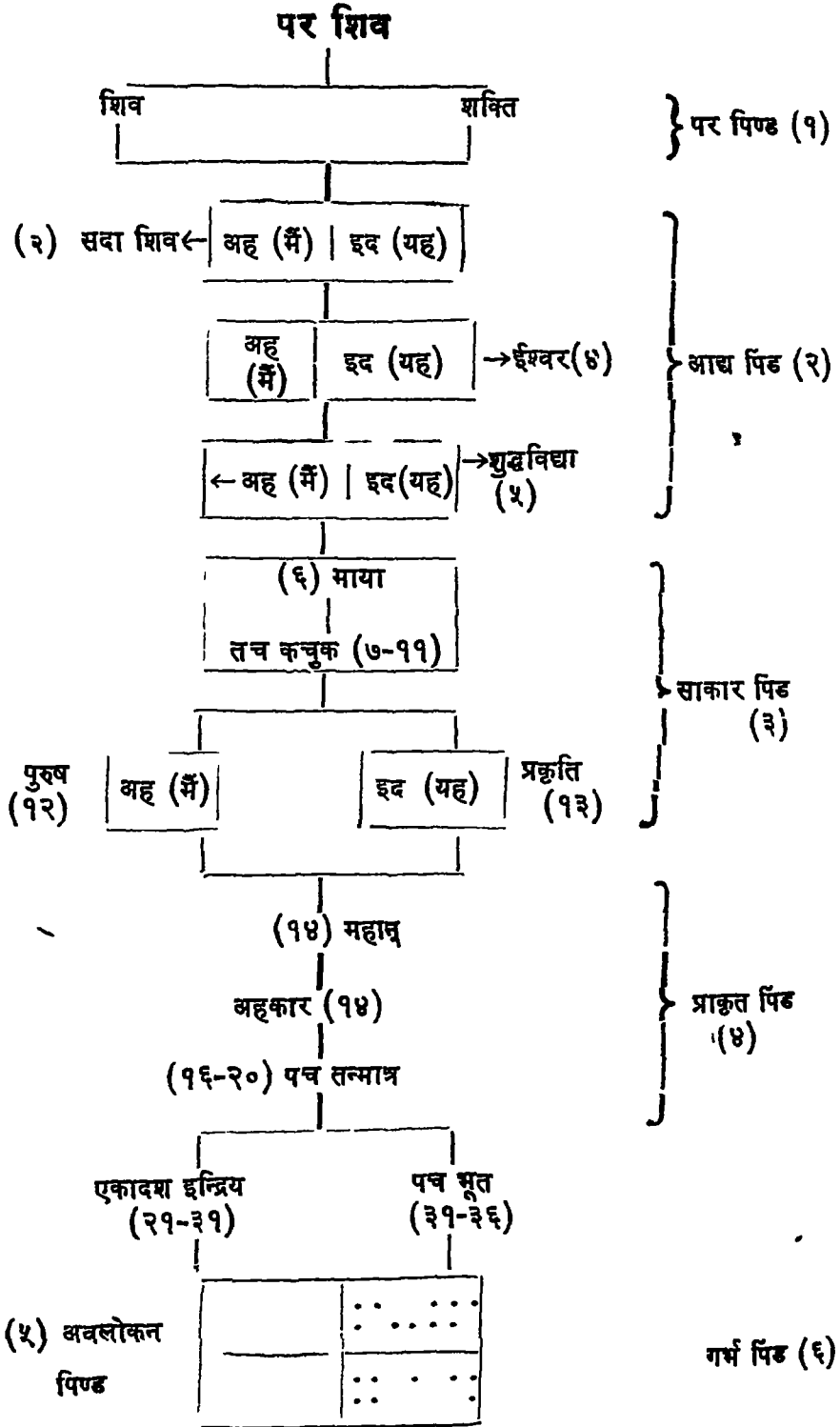
ग्रथकार और महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह वाद ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) पर-पिण्ड
(२) आद्य-पिण्ड
(३) साकार या महासाकार-पिण्ड
(४) प्राकृत-पिण्ड
(५) अवलोकन-पिण्ड
(६) गर्भ-पिण्ड

इन पिण्डो मे पर-पिण्ड तो शिव और शक्ति के सयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्त्वो मे आद्य पिण्ड और माया और पच कञ्चुको से आच्छादित अहन्ता-प्रधान पुरुप और इदन्ताप्रधान[1] प्रकृति तक साकार तत्त्व है। महत्त्व से पचतन्मात्र तक प्राकृत पिण्ड और एकादश इन्द्रियो का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पच भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भ पिण्ड है। इस प्रकार ३६ तत्त्वो के स्फुरण से इस पिण्डोत्पत्ति का सामजस्य किया गया है।

अव यह स्पष्ट है कि पर शिव ही अपनी सिसृक्षा रूपा शक्ति के कारण जगत् के रूप मे वदल गए हैं। ससार मे जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुत उसी प्रक्रिया मे से गुजरता हुआ वना है जिस अवस्था मे से यह समूचा ब्रह्माण्ड वना है। सव मे वही तत्त्व ज्यो के त्यो हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमे भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओ को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाडियाँ या द्वार या आधार मनुष्य मे हैं उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड मे और उतनी ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु मे हैं। भेद यही है कि सत्त्व, रज तम काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्व वश वे कही अविकसित हैं, कही अर्ध विकसित हैं, कही पूर्ण विकसित हैं। इसीलिये गोरक्षमत मे प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड मे है वह सभी पिण्ड मे है।[2] पिण्ड, मानो ब्रह्माण्ड का सक्षिप्त सस्करण है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधनापरक मार्ग है इसलिये केवल व्यावहारिक वातो का ही विस्तार

---

१ 'अह' और 'इद' सस्कृति मे क्रमश 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहन्ता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुप मे 'अहन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात उसमे 'चेतन मैं हूँ' यह भाव-प्रधान होता है। प्रकृति मे 'इदन्ता' की प्रधानता होती है। अर्थात् पुरुप उसे चेतन से भिन्न 'इद' (वह) के रूप मे समझता है।

२ ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित,
तत पिण्डेऽप्यस्ति सर्वया।
—सि० सि० स० ३।२।

उसमे दिया हुआ है । मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गई है । बताया गया है[1] कि मनुष्य के किस-किस अग मे ब्रह्माण्ड का कौन-कौन-सा अश है । पाताल कहाँ है । साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गधर्व, यक्ष, उरग, किन्नर भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं । अनुसधित्सु पाठक मूल ग्रन्थो मे उसका विस्तार खोज सकते हैं ।

स्पष्ट ही, इस शरीर मे सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है । यह विश्व-ब्रह्माण्ड मे प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्डगत स्वरूप है । यह लक्ष्य करने की बात है कि पर पिण्ड को ही प्रथम या आद्य पिण्ड नही कहा गया है । नाथ मार्ग अद्वैतवादी है परन्तु शाकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिये ये लोग अपने को द्वैताद्वैत विलक्षण वादी कहते हैं ।[2] नाथ तत्त्व और अद्वैत दोनो से परे हैं ।[3] आद्य या प्रथम कहने से वह सख्या द्वारा सूचित किया जाता है और सख्या भी एक उपाधि है, इसलिये पर तत्त्व को '१' सख्या द्वारा भी सूचित नही किया जा सकता । वह उस से भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरजन है[4] शून्य है ।[5] वह निष्क्रिय और क्रिया ब्रह्म दोनो से अतीत अवाच्य पद है । इसीलिए उसकी आद्य-सज्ञा नही हो सकती । पहला पिण्ड भी इसी-लिये 'पर-पिण्ड' कहा जाता है, आद्य-पिण्ड नही ।[5] जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है इसलिये शक्ति ही असल मे जगत्कर्त्री है शिव नही । शिव केवल ज्ञेय है ।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदि कर्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है । उसी को प्रधानकर्त्री और उपास्य क्यो माना जाय ? जगत

---

१ देखिए सि० सि० स० तृतीयोपदेश ।

२. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैत कुत आगतम् ? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचोऽक्रियाश्चमर्म तत् किमिति चेदुच्यते । अद्वैत तु निष्क्रिया-दित्याग्यस्ति । यत. कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य-इत्याद्यनेक-विधिभिरद्वैतखण्डन-करिष्यामः । महासिद्धैरुक्त यदद्वैताद्वैतविवर्जित पद निश्चल दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्याम. । —गो० सि० स० पृ० १६।

३. अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
सम तत्त्व न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम् ।
यदि सर्वगतो देव. स्थिरः पूर्णो निरन्तर ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ।।
गो० सि० स० (पृ० ११) मे अवधूत गीता का वचन

४. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुष·
तदाविवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन· । —शिव-सहिता १-६८ ।।

५. खसम असम शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अचिन्त्यचितक चैव सर्वभावस्वभावकम् ।

कहाँ हैं, षोडष आधार कौन कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं वह कैसे सिद्धि पा सकता ? फिर एक खंभे वाले, नौ दरवाजो वाले और पाँच मालिको के द्वारा अधिकृत इस शरीर रूपी घर को जो नहीं जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है ?[१] इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है। आश्चर्य है दुनिया के लोगो की मूर्खता पर ! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालंबन को बहुमान देते हैं, कोई ध्यान-कला-करण-सम्बन्ध-प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद-चैतन्य-पिण्ड-आकाश को मोक्ष कहते हैं।[२] कोई पूजा पूजक मद्य-मास, सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते हैं, कोई मूलकंद से उल्लासित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु ये सभी असल मे मोक्ष नही हैं। जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है, तब जो अवस्था होती है असल मे वही मोक्ष है।[२] यह सहजसमाधि क्या है ? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योग-मार्ग को समझना आवश्यक है।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रंथो मे कुण्डलिनी की कोई चर्चा नही आती। मछिन्द्र-गोरख बोध' मे गोरखनाथ के प्रश्नो का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। इस प्रश्नोत्तरी मे कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय मे न तो कोई प्रश्न है न उत्तर। अनेक ग्रंथों मे हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है। फिर भी संस्कृत मे प्राप्त गोरक्ष-लिखित मानी जाने वाली प्राय. सभी पुस्तको मे कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन की चर्चा है। 'अमरौघशासन' का जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है उससे भी मालूम होता है कि गोरक्षनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे। पर 'अमरौघ शासन' मे प्रणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (११

---

१. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ॥
एकं स्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिन· ॥

—गोरक्ष शतक १३-१४

२ अहो मूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदन मोक्षः, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षा केचिद वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्ष, केचिद् वदन्ति ध्यान-कलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन। रूपविन्दुनादचैतन्य पिण्डाकाशलक्षणो मोक्ष केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्य मासादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्ष·, केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलोसंचारलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपात लक्षणो मोक्षः। इत्येवविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपद कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्ष।

—अमरौघ शासनम् पृ० ८-९

वाँ अध्याय)। हिन्दी में गोरखपंथ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें कुण्डली-उद्बोधन का कोई प्रसंग नहीं मिलता। संभवतः नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गए थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में इस मत का प्रभाव रह गया हो।

१०

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश मे योगविद्या का प्रचार है। 'कठ' (६ ११, ६ १८), 'श्वेताश्वतर' (२ ११, २ ८) आदि पुरातन उपनिषदो मे इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदो मे से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे सक्षेप मे इन परवर्ती उपनिषदो की चर्चा का सुयोग हमे मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले पहल मनुष्य जाति के उपकार के लिए इस विद्या का उपदेश किया था। 'योग दर्शन' के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतजलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिए योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है। (१ १ १६ परतत्त्व वैशारदी)। विश्वास किया जाता है कि पतजलि मुनि शेषनाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन 'पातजलिदर्शन' के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गई हैं जिनमे व्यास का भाष्य, विज्ञानु-भिक्षु का वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। मूल 'पातजल दर्शन' चार पादों (=चरण,) मे विभक्त है। सारा ग्रन्थ सूत्र रूप मे लिखा हुआ है और कुल सूत्रो की सख्या ११५ है। चार पादो के नाम उनमे प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं—

१ समाधिपाद, २ साधनपाद, ३ विभूतिपाद, ४ कैवल्यपाद।

पतजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (१ १ २) भाष्य-कार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्त गिनाए हैं और बताया है कि इस प्रसग मे योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त मे रजोगुण का प्रावल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुण का प्राबल्य होता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (१) क्षिप्त चित्त कहते हैं और (२) द्वितीय को मूढ। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दु ख के साधनो को छोडकर सुख के साधनो की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (३) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं हैं,

तीसरा कदाचित स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयो से हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे (४) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य सस्कारो के साथ-साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (५) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पाँच प्रकार के चित्तो के चार परिणाम बताए गए हैं। क्षिप्त और मूढ मे व्युत्थान, विक्षिप्त मे समाधि-प्रारम्भ, एकाग्र मे एकाग्रता और निरुद्ध मे निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते हैं। समाधि के लिये अतिम दो परिणाम बताए गए हैं। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था मे क्रोध की और क्रोध की अवस्था मे प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है परन्तु इसे योग नही कह सकते। इसीलिए भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने मे अविद्या आदि क्लेशराशि नष्ट होती है बुद्धि के लिए सात्विक निर्मल भाव की वृत्ति होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है। जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, सप्रज्ञात और असप्रज्ञात। चित्त की एकाग्रतावस्था मे सप्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था मे असप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि मे चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नही होता। बल्कि ध्येय रूप मे अवलंबित विषय को, आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि मे सारी वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं।

योगी को संप्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलम्बन करना होता है—(१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म, ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता से बुद्धि और आत्मा के उस अविविक्त भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमश- सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमश सूक्ष्म विषयो को ध्यान का आलंबन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पचभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पचतन्त्रमात्र फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सबके अत मे (४) अस्मिता को अवलंबन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार के भिन्न जातीय अवलम्बनो के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसग में ध्यान मे रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योग-दर्शन के मूल सूत्रो से यह बात अब भी सिद्ध नही की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग साख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी-कभी दोनो मतों मे पार्थक्य भी बताया गया है। सांख्य ईश्वर को नही मानता और योग दर्शन मानता है इसलिये योग को सेश्वरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे सप्रदाय भी हैं जो साख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जो हो, ऊपर जिस स्थूल सूक्ष्म, ग्राह्य और

ग्रहण का प्रसग है, उसकी व्याख्या सब ने सांख्य के तत्त्ववाद के अनुकूल ही की है। सक्षेप मे, इसीलिये उस तत्त्ववाद की यहाँ चर्चा कर लेना ही उचित है।

सांख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल मे फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नही हो जाता तभी तक वह उसके जाल मे फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणो की साम्यावस्था का ही नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागो मे बाँटते हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (साख्यकारिका ३)। बाकी तीन मे प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब सयोग होता है तो प्रकृति मे विक्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (=विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहकार और उससे पचतन्मात्र (अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्ध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धि-तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहकार और पचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पचतन्मात्र और पचमहाभूतो की प्रकृति भी हैं। इसीलिये साख्यशास्त्री इन्हें (अर्थात् महान् अहकार और पचतन्मात्र, इन सात तत्त्वो को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पांच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक), पांच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पांव, जीभ, वायु और उपस्थ) ये दस इन्द्रिय मन और पांच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति हैं। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ और १६ विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन २५ तत्त्वो के प्रस्तार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग मे चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ मे होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहकार। पुरुष (=आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भांति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो वस्तु भी हो वही उसमे प्रतिबिंबित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था में जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिबिंबित होकर चित्त को अपने ही तरह का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता चित्त में नहीं रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलंबित विषय के रूप में चित्त के अनुरंजित या प्रतिबिंबित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ चित्त की अव-

भाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है :—(१) स्थूल विषयों के अवलंबन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितर्क' (२) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलबन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (३) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रिय रूप विषय को अवलबन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'आनंद' और (४) बुद्धि के साथ आत्मा की अभिन्नता-रूप भ्रान्ति—जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलंबन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित' कहते हैं (१ १७)। इन चार प्रकार की अवस्थाओं में उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलंबन किया गया है या किया जा रहा है। एक का तत्त्व-साक्षात्कार किए बिना परवर्ती अवस्था में उठाना निषिद्ध है।

समुद्र में जिस प्रकार तरंग उठा करती है उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पांच मोटे विभागों में बांट कर समझाया है—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति, ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिये क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात संभव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और मुग्ध होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः-पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि यद्यपि चचल मन का वश करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र में जाने जाने वाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(१) राग और द्वेषवश, जो इन्द्रियचांचल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा) (२) राग और विराग के विषयों को अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (३) इन्द्रिय निवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा) और अन्त में (४) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकार संज्ञा)। सम्प्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य

की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर वैराग्य) जब द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्वो से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विषयो के उपभोग से वितृष्ण हो जाता है। इसी 'पर वैराग्य' के अनुशीलन से असप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि सप्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विषयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (=पर वैराग्य) के पुन.पुन अनुशीलन या अभ्यास से होती है इसलिए सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमे चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं पर सस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन सस्कारों की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये असप्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्जीव समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' का नाम दिया गया है। इसमे भ्रान्ति बनी रहती है इससे इसमे कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुप रूप मे ही अवस्थान रूप ज्ञान) नहीं होता। असप्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृत और योगाग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गई है। इस असप्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था मे द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप मे अवस्थान करता है। यही कैवल्य-प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिए एक और भी उपाय बताया है। ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर मे मन लगाना (१-२३)। साधारण जीवो में जो पाँच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते हैं, जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते है, जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु, और भोग) होते हैं और जो पूर्व तक सस्कार होते हैं (आशय) उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिए अन्यान्य पुरुषो से विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशो के अधीन हैं, जन्म-मरण के चक्र मे पड़े हुए हैं, पाप, पुण्य (धर्म-अधर्म) के वशवर्ती हैं और पूर्व-सचित वासनाओ के दास है। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकार, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त हैं। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त एकाग्र होता है और उसे आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त मे अकर्मण्यता या जड़ता आ सकती है (स्त्यान), योग के विषय मे सन्देह उपस्थित हो सकता है (सशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते हैं, विषय भोग की तृष्णा पैदा हो सकती है (अविरति) विपरीत ज्ञान (भ्रान्तिदर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुलभ हो गई पर मन

उस समय स्थिर नही हो सका। इन बातो से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नो की सभावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त विशोधन के और भी कई उपाय बताये हैं, उनमे अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख्य है (१.३९)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर ही जोर दिया है। इस 'पाद' या चरण मे साधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होंने इसका नाम 'समाधिपाद' दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं—समाधि-भावना और क्लेशो को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आए हैं, क्लेश पांच प्रकार के हैं, (१) अविद्या अर्थात् भ्रान्ति-ज्ञान-जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना, (२) अस्मिता अर्थात् अहकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना, (३) राग अर्थात् सुख और उसके साधनो की ओर खिचाव, (४) द्वेष अर्थात् दुख और दु खजनक वस्तुओ के प्रति हिंसा वृत्ति और (५) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मो के सस्कार वश मरणादि से त्रास। ये पाँचो क्लेश हैं पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त क्षीण विच्छिन्न या उदार अवस्थाओ मे से किसी एक मे ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था मे राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था मे विच्छिन्न रहता है, रागविरोधी विचारो के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारो क्लेश जिस अवस्था मे भी क्यो न हों उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशो को क्षीण करता है और क्रमश. आगे बढ़कर प्रसख्यान अर्थात् ध्यान रूप अग्नि से उन्हें भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधिभावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि जितने भी कर्म आशय और विपाक हैं वे सभी क्लेशमूलक हैं और क्लेशो के, उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने आप हो जाता है।

योगदर्शन सपूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागो मे विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दु.ख और दु खजनक पदार्थ हेय हैं और चूंकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझ कर उलझ जाता है इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव रूप संयोग है वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह सयोग सभव होता है, इसलिए वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के ज्ञान का उपाय है क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नही हो जाती तब तक योगांगो के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है। (२।२८)। ये आठ हैं, यम,

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, तथा धारणा, ध्यान और समाधि, प्रथम पाँच वाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। सक्षेप मे इनका परिचय इस प्रकार है।

(१) यम, वाहरी और भीतरी इन्द्रियो के सयमन (वृत्ति-संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (=चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच यम हैं। इन यमो (=सयमो) की विपरीत क्रियाओ—हिंसा, असत्य, स्त्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं इनका फल दु:ख और अज्ञान है। (२) वितर्कों के दमन और सयमो की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाए हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (३) योग साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताए गए हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रन्थो मे आसनो की अनेक सख्यायें बताई गई हैं परन्तु 'पातजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन (२।४६) को ही योगसाधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आवद्ध रखना (कुम्भक) और फिर वाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के सयमन से मन का सयमन सहज होता है। (५) शब्दादि वाह्य व्यापारो से कान प्रभृति इन्द्रियो को हटा कर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था मे वाह्य विषयों के साथ इन्द्रियो का कोई सम्पर्क नही होने से चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण करते हैं, इद्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियो को वश में करना सभव होता है।

इन पाँच योगागो की चर्चा करने के बाद-सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगागो का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद मे किया है। ये पाँच बहिरग साधन हैं क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका वाहरी सवध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगाग साक्षात्सवध से कार्य सिद्धि के हेतु हैं, इसलिये अत-रग साधन कहे गये हैं। इन गीतो को एक ही नाम 'सयम' दिया गया है। तीनो को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनो जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं तभी योगाग होते हैं, अन्यथा नही। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नही कह सकते। सो, नाना विषयो में विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति) पर बाँधने को 'धारणा' कहते हैं, धारणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (=प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (३ २) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्यसा होकर ध्येय विषय के आकर में आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्) तो समाधि कहा जाता है (३।३) प्रथम पाद मे जिस सप्रज्ञात और असप्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन है, वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूल ग्राह्य, सूक्ष्म-ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था मे 'संयम' (ध्यान-

धारणा समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक सप्रज्ञात समाधि का सबध है वही तक योग के आठ अगो मे से पाँच वहिरग हैं और तीन अन्तरग। असं-प्रज्ञात समाधि के लिए तो आठो ही वहिरग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा मे नही होता, अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा मे होता है, तो उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयो का अनुभव करता है वे स्वय नष्ट होने के बाद भी अपना सस्कार छोड जाते हैं और इसीलिए वे सस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते है। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था मे भी सस्कार रहते ही हैं। सप्रज्ञात समाधि की अवस्था मे यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथापि सस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियो के निरोध से भी एक प्रकार का सस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशा वाले संस्कारो को 'व्युत्थानज' और निरोध दशा वाले सस्कारो को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनो का द्वन्द्व जारी रहता है; जो प्रवल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज सस्कार प्रवल होकर व्युत्थानज सस्कारो को दवा पाते है। इस अवस्था को ग्रथकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (३।९) यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवता गण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। सच्चे योगी इससे भटक जाते हैं, पर सच्चे योगी विचलित नही होते। वे उन विभूतियो के दर्शन मे विस्मित भी नही होते, चचल भी नही होते, और प्रलुब्ध भी नही होते। तीसरा पाद यही समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरभ मे ही सूत्रकार ने पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बताई हैं। (१) पूर्व-जन्म के सस्कारो के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धिया जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं, फिर (२) रसायनादि औषधो की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं। (३) ऐसा भी होता है कि मन्त्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, फिर (४) तपस्या से भी सिद्धिलाभ संभव है पर वास्तविक और परमसिद्धि तो (५) समाधि से कैवल्य-प्राप्ति ही है। बाकी सिद्धियो से लोक-प्रतिष्ठा चाहे जितनी मिले वे अधिकतर कैवल्य-प्राप्ति मे बाधक ही होती है। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भाँति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते हैं। कभी-कभी योगी लोग योगबल से अनेक कायाओ का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उस विषय मे योगी और भी दृढ़ विश्वासपरायण हो जाते हैं, फिर तो योगी की आत्मा स्वत. ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होती है। वह समस्त इच्छाओ से—यहाँ तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस हालत मे वह धर्ममेघ नामक समाधि को प्राप्त होता है। सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसंख्यान' (= प्रकृति और पुरुष का विवेक-साक्षात्कार) के प्रति भी जब आदरभाव नही होता तब उसे वह 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है जो विवेक ख्याति का परम फल है (४।२९)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती

रहती है और योगी समस्त क्लेशो और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये निर्दिष्ट होते हैं वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते हैं और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) मे अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनो प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादि काल का लिंग शरीर[1] चूंकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिये वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) तत्तद् उपादानो मे लीन हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।

---

१ साख्यकारिका (४०) मे बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वो मे अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं परन्तु बाकी अठारहो तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते है। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना ही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे रहते हैं। इन अठारहो तत्त्वो मे से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि, अहकार, मन, और दसो इन्द्रिय) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नही सकते, वस्तुत॰ पचतन्मात्रो को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसीलिये कि ये तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वो को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य, जीता होता है तब तक तो इन गुणो को उसका स्थूल शरीर आश्रय किए होता है, पर जब वह मर जाता है तब पच तन्मात्र ही इन गुणो के वाहक होते हैं (साख्यकारिका (४१)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक सस्कारो को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर मे जिन अठारह तत्त्वो का समावेश है उसमे बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसी को साख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसी को साख्यकारिका मे 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल मे गध और कपडे मे रग लगा रहता है उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर मे लगा रहता है (सा० का० ४२)।

११

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

१. हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नही है। शास्त्रग्रन्थो मे हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' मे 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चद्र। सूर्य और चद्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं—

हकारः कथित. सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचद्रमसोर्योगाव् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चद्र से अपान वायु का। इन दोनो का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इडा नारी को कहते हैं और चद्र पिंगला को (हठ० ३ १५)। इसलिये इडा और पिंगला नाडियो को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के सचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है।[1] वस्तुत हठयोग का मूल अर्थ यही जान पडता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज मे आता है, वहाँ बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[2]

योगस्वरोदय मे हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम मे आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाडियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाडी मे

---

१. प्राणतोषिणी : पृ० ८३५।

२ दर्शने तु कृतेऽप्येय साधकस्य न जायते।
यदा न सिद्धयते बोधिर्हठयोगेन साधयेद्॥

पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद मे बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग मे दृष्टि निर्बद्ध कर आकाश मे कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रगो का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिये हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[1]

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट[2] प्रधान, भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अगो को स्वीकार करती हैं जिन्हे पातजल योग के प्रसग मे हम देख आये हैं और दूसरी केवल अन्तिम छ· अगो को[3] परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नही है। हठयोग के ग्रन्थो में *अष्टाग योग की भी बात आती है और षडग योग की भी। गोरक्ष-शतक* मे *षडग*-योग की बात है और 'सिद्ध सिद्धान्त सग्रह' मे अष्टाग योग की।[4]

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नही पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग मे लगता है वहाँ एक स्वयभू लिग है जो एक त्रिकोण चक्र मे अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र मे स्थित स्वयभू लिग को साढे तीन वलयो मे लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयो मे लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है (गो० १,४७)। यह ब्रह्माण्ड मे व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि मे व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है।[5] इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियो से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता

---

१. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
अतोऽय हठयोग: स्यात् सिद्धिद· सिद्धसेवित·।

—प्राणतोषिणी, पृ० ८३५।

२. द्विधा हठ· स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसज्ञक·॥

३. स० भ० स्ट० भाग० ६ मे म० म० प० गोपीनाथ कविराज का लेख देखिये।

४. गो० श० : १।७, सि० सि० स० · २।४८।

५ येन द्वारेण गन्तव्य ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वार प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

—गो० श० १४८।

है।[1] हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठयोग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर मे तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चचल होने के कारण वे मनुष्यो के काम नही आ रही। पहली और प्रधान वस्तु है। (१) बिंदु अर्थात् शुक्र। इनको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं, (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमे से किसी एक को भी यदि वश मे कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। एक-एक संक्षेप मे विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी-कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र मे आ जाती है। वह है, वाक् या वाणी।

'अमरौघ शासन' मे (पृ० ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल मे सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषो के शुक्र और स्त्रियों के रज. स्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनो के पारिभाषिक नाम प्रलय-काल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं मे जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव विनि-र्मुक्त सहजानंद की अवस्था है, इसमें बिंदु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमे मन और प्राण अचचल हो जाते हैं।[2] ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परंतु इसके लिए आवश्यक है कि नाडियो को शुद्ध किया जाय। हठयोग षट् कर्म के द्वारा वही कार्य करता है। इन शुद्धि की क्रियाओं का साधन ग्रन्थो मे विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमे धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है—इन्ही को षट्कर्म कहते हैं। नाडी के शुद्ध होने से बिन्दु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमश अचचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र मे स्थित शिव के साथ समरस हो जाती हैं और योगी चरम प्राप्तव्य पा

---

१. उद्घाटयेत् कपाट तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वार प्रभेदयेत्॥—वही ११५१।

२ इस प्रसग मे 'अमरौघ शासन' मे निम्नलिखित श्लोक हैं जिसमे वज्रयानी साधको के पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार जान पडता है। इन शब्दो के सावृत्तिक और पारमार्थिक अर्थ की बात हम कृष्णपाद (कानिपा) के प्रसग मे जान चुके हैं—

शक्तित्रविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरजनात्।
वज्रपूजापदानद य. करोति स मन्मथ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुक्ति रूर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलित रेतो मृत्युरेखाविष विदुः॥

जाता है। इस क्रिया के लिए ही लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियो से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[1] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग मे प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ मे यह इस मार्ग मे स्वीकृत थी। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' मे एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश मे कुछ स्पष्ट हो जाता है।[2] इसमे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्ध मार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ मे ही यह सिद्ध मार्ग मे गृहीत है।

नाडीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओ का शमन सहज हो जाता है। नाना-प्रकार के आसनो और प्राणायामो से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाडियो को प्रधानतः दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणाङ्ग मे व्याप्त नाडियाँ सूर्य का अंग हैं और वाम भाग वाली चन्द्रमा के अंग। इन दोनो के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है और उनमे बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मूल मे स्थित सुषुम्ना की मध्य-वर्तिनी ब्रह्मनाडी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही उर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है।[3]

चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजनः॥

—अ० शा० पृ० ८

१ गो० प० : (पृ० ५३-५५)

२ संकोचनेन मणिकास्य परश्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
वज्रोदरे संगतिबंधनभेदिदर्प्या भृगस्य चेद्विद्रुदिरे (?) खलु विंदुबंध॥
एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः॥
ज्ञानादेव भवेदस्या सिद्धमार्गः प्रकाशितः॥

—सि० सि० सं० २।१७-१८।

३. मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भव।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः॥१॥
मूलकन्दे तुव्या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्त वतोऽय प्राण इत्युच्यते बुधैः॥२॥
कंददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिव वेत्तिप्राणैरेव व्यवस्थिता॥३॥

—अमरौघ० पृ० ११

'अमरौघ शासन' मे तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उल्टी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंक्तियाँ कुंडली की।

यह कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखड रूप से निखिल ब्रह्माड मे निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगो ने बताया है (हठ० ४-८३-८५) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी झर्झर आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शख, घटा और काहल की-सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त मे किंकिणी, वशी और वीणा की झकार सुनाई देने लगती है। परन्तु ज्यो-ज्यो साधक का चित्त स्थिर होता है त्यो-त्यो इन शब्दो का सुनाई देना वन्द होता जाता है, क्योकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो वाह्य विषयो से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राणवायु को निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। उद्बुद्ध कुण्डली क्रमश षट्चक्रो को भेद करती हुई सातवे अन्तिम चक्र सहस्रार मे शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्‌वोध और शक्ति संग मन का हेतु है इसलिए हठयोग मे प्राण-निरोध का बडा महत्त्व है। षट्चक्रो के विषय मे हम पहले सक्षेप मे कह आये हैं। यहाँ भी उसका थोडा उल्लेख कर देना उचित है।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गई है उसके ऊपर चार दलो के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छ. दलो के कमल का है, इस चक्र के ऊपर मणिपूरचक्र है और उसके भी भीतर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनो क्रमशः दस और वारह दलो के पद्मो के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य मे आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इनमे सबके दलो की संयुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यजनो की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक-एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कर्णिका मे कोई न कोई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधको के काम की हैं। इस अध्ययन मे उनका विशेष प्रयोजन नही है। फिर भी अन्यान्य साधनाओ से तुलना करने के लिए और इस मार्ग के तत्त्ववाद को समझने के लिए पाठको को इसकी आवश्यकता हो भी सकती है। यही सोचकर एक सारणी आगे दी जा रही है जिससे सारी बातों का खुलासा हो जायगा। इन षट्चक्रो को भेद करने के वाद मस्तिष्क मे वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्बुद्ध कुण्डली को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलो के कमल के आकार का है, इसीलिये इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यही पर शिव का निवास है।[1] इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाडी

---

१ अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं वाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

—शि० ५-१५१-१५२

षट्-चक्र

चक्र	स्थान	दल-सख्या	वर्ण	तत्व और गुण	तत्व का रग	मडल का आकार	वीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यन्यतत्त्व और इद्रिय	पीठ
१. मूलधार	रीढ के अधा-भाग मे पायु और मुष्क मूल-के मध्य	४	व,श,ष,स,	पृथ्वी आकर्षण गध	पीत	वर्गाकार	ल ऐरावत	ब्रह्मा हस	डाकिनी	स्वयभू, त्रैपुर त्रिकोण	गधतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामा-ख्या
२. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड मे मेढ के ऊपर	६	व भ म य र ल	जल, सको-चन रस	श्वेत	अर्द्ध चद्र	व मकर	विष्णु गरुड	राकिनी		रसतत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपुर	मेरुदण्ड मे नाभि के पास	१०	ड ढ ण न त थ द ध प फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	र मेप	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	....	रूपतत्त्व, चक्षु, पायु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट् कोण	य कृष्ण-मृग	ईश	काकिनी	वाण, त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा, उपस्थ	पूर्ण गिरि
५ विशुद्धाख्य	कठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी		शब्द कान वाक्	जाल घर
६. आज्ञा	भ्रुवो के बीच मे	२	ह क्ष	मन	×	×	ओ	शम्भु	हाकिनी	इतर, त्रिकोण	महत् सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	वायु यान

सुषुम्ना को इसीलिए शाभवी शक्ति कहा जाता है, क्योकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करने वाली नाडियो की सख्या ७२ हजार है पर असल मे यह शाभवी शक्ति सुषुम्णा ही सार्थक है, बाकी सब तो निरर्थक है।[१] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल मे प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु 'योग शिखोपनिषद्' मे राजयोग अन्यभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् मे भी चार प्रकार के योग कहे गये हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इनमे हमारा प्रकृत विषय हठयोग है। मन्त्रयोग मे कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास मे 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह' कार के साथ प्राणवायु बाहर आता और 'स' कार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सहज ही 'ह-स' इस मन्त्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्ना मार्ग मे यही मन्त्र उल्टी दिशा मे उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मन्त्रयोग के सिद्ध होने पर हठ-योग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग मे हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनो का योग ही हठयोग है। हठयोग से जडिमा नष्ट होती है और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमे पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[२] इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र मे जपा और बधूक पुष्पो के समान लाल रज रहा करता है। यह देवी तत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है।[३] इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ मे 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दो का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड दिया है कि शिश्न मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[४]

---

१ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे
सुषुम्णा शांभवी शक्ति शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥

—हठ० ५।१८

२ योग शिखोपनिषत (१२९-१३५)।

३ योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूना देवीतत्त्व समावृतम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पद प्राप्य राजते राजयोगतः॥

योग सिखोपनिषत १३६-१३७।

४ राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शशि (शिश्न १) स्थाने रेतो वर्तते तद्धि शिव-तत्त्वम्।

हमने ऊपर देखा है कि गोरक्ष नाथ ने स्वय कहा है कि जो व्यक्ति छ' चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चक को नही जानता वह सिद्धि नही प्राप्त कर सकता। षट् चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादागुष्ठ, अग्नि को दीप्त करने वाला (२) मूलाधार, सकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाडी मे प्रवेश करा कर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली वज्रोली के सहायक (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुचक्र, मल-मूल और कृमि का विनाशक (५) नाड्याधार, नादोत्पादक (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण-वायु का रोधक (७) हृदयाधार, इडा पिंगला मे प्रवहमान वायु को रोकने वाला (८) कठाधार और कठमूल का वह (९) क्षुद्रघटिकाधार जिसमे दो लिंगाकार लोरे लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरध्र मे स्थित चद्र मडल का क्षरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक (१०) ताल्वन्ताधार, जिह्वा के अधोभाग मे स्थित (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने मे सहायक (१४) नासामूल, सूर्याकाश मे मन को लीन करने वाला (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिसमे ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। आन्तर-लक्ष्य षट्चक्र है। दो लक्ष्य यही हैं। पाँच आकाश मे इस प्रकार हैं—(१) श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योति रूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योति रूप तत्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।[1]

इन विविध ध्यानो को आसन, प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है, इसीलिये 'अमरौघ शासन' मे मुद्रा को 'सारणा' (=चलाने वाली) कहा गया है। अव, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि-चक्र मे पच-पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल मे शिव और शक्ति क्रमश स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिये अलग-अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिन दिन समरस होकर एकमेव हो जायेंगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप नि.शेष हो जायगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप मे देह मे स्थित है और शिव भी सहस्रार मे विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के सचित मलो के भार से कुण्डलिनी दवी हुई है। एक वार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के वल से वायु को सयमित करे और नाडियो को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरंध्र को ढक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई है। वस्तुत. यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो प्रकार की है—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के वोझ से दवे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नही जान पाते।

---

१. सि० सि० स० : द्वितीय उपदेश, गो० प० · पृ० १२-१४।

सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नही मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियो की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहजसमाधि प्राप्त होती है जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से नही, ज्ञान से भी नही, वैराग्य से भी नही।।[1] जो इस सहजसमाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरण कमलो की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति सामरस्य ही -

अनुबुभूषति यो निजविश्रम
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुससरणात् परम पद
समरसीकरणं च न दूरत ॥
—सि० सि० स० ५५८

२. गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रन्थ पाए जाते हैं वे प्राय सभी साधन-ग्रथ है। उनमे साधना के लिये उपयोगी व्यावहारिक तथ्यो का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन मे उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज मे 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' नाम की एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० प० गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान-स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमे भी सन्देह नही कि पुस्तक हाल की लिखी है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत जान पडता है। पुस्तक मे पुरानी ५८ पोथियो के प्रमाण संग्रह किए गए हैं।[2] उद्धृत पुस्तकों मे से अनेक उपलभ्य नही हैं।

---

१ सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता।
तस्या भेद न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु।
तत सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी॥
—सि० सि० स० ४।३०-३२

२ निम्नलिखित पुस्तको के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं—

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
२. अवधूत गीता
२. सूतसंहिता
४ ब्रह्मविंदुउपनिषत्
५ कैवल्योपनिषत्
६ तेजविंदूपनिषत्

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की वडी जबर्दस्त परपरा जो ब्राह्मणो और बौद्धो मे समान रूप से मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदो मे नाना भाग से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधको के पास तो काया योग का साहित्य अन्यान्य अगो से कही वडा था। इन सब से गोरक्षनाथ ने सार सग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रथ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नही रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत

---

७ अमनस्क
८ विवेकमार्तण्ड
८ ध्यानविंदूपनिषत्
१०. मुण्डक उपनिषत्
११ आत्मोपनिषत्
१२ अमृतविंदु उपनिषत्
१३. मनुस्मृति
१४. उत्तरगीता
१५. वायुपुराण
१६ मार्कण्डेय पुराण
१७. गीता
१८. तत्रमहार्णव
१९ क्षुरिका उपनिषत्
२० गोरक्ष उपनिषत्
२१ बृहदारण्यक उपनिषत्
२२. छान्दोग्य उपनिषत्
२३. कालाग्निरुद्र उपनिषत्
२४. ब्रह्मोपनिषत्
२५ सर्वोपनिषत्
२६. राजगुह्य
२७. शक्ति सगम तत्र
२८ हठ प्रदीपिका
२९ सिद्धान्त विंदु
३०. शावरतत्र
३१ षोडशनित्यातत्र
३२ षट्शाभव रहस्य
३३. पद्मपुराण
३४. महाभारत
३५. कवेषय गीता
३६. सनत्सूजातीय
३७. बह्वृच्ब्राह्मण
३८ शिवउपनिषत्
३९. माण्डूक्य उपनिषत्
४०. भागवत
४१ योगबी
४२ कपिलगीता
४३ गोरक्षस्तोत्र
४४ कल्पद्रुमततत्रका गोरक्ष सहस्रनाम
४५. सारसग्रह
४६ स्कदपुराण
४७. रुद्रयामल
४८ तारासूक्ति
४९ कुलार्णव तत्र
५०. वायु पुराण
५१. सूत सहिता
५२. आदिनाथ संहिता
५३. ब्रह्मवैवर्त
५४ शिवपुराण
५५ परमहस उपनिषत
५६. योगशास्त्र
५७. श्रीनाथ सूत्र
५८ अखण्ड खण्ड

उन्होने सग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नही हैं।[1] यह कह सकना बडा कठिन है कि इसमे कौन-सी गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन-सी बाद की। डा० डायसन[2] ने कालक्रम से इन उपनिषदो को चार भागो मे विभक्त किया है।

१ प्राचीन गद्य उपनिषत्

२ प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्

३ परवर्ती गद्य उपनिषत्

४ आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदो मे संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नही किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदो मे से एक को भी 'अथर्ववेद' से संबद्ध नही माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पडता है कि योग उपनिषद् परवर्ती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि षडङ्ग योग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनो की संख्या अधिक मानना हठयोगियो का प्रभाव है और नादानुसधान इन लोगो को ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमे कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानविंदु' और 'योगचूडामणि आदि उपनिषदो मे षडग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' मे नौ और 'त्रिशिख ब्राह्मण' मे अट्ठारह

---

१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ० महादेव शास्त्री ने सन् १६२० मे 'योग उपनिषद.' नामक एक योग विषयक उपनिषदो का सग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदो मे प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु शास्त्री जी के संस्करण मे यह विशेषता है कि उसमे उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्यायें भी हैं। इस सग्रह की उपनिषदो के ये नाम हैं :

१. अद्वयतारकोपनिषत्	११ ब्रह्मविद्योपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्	१२ मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
३ अमृतबिंदूपनिषत्	१३ महावाक्योपनिषत्
४ क्षुरिकोपनिषत्	१४ योगकुण्डल्युपनिषत्
५. तेजोबिन्दूपनिषत्	१५ योगचूडामण्युपनिषत्
६ त्रिशखब्राह्मणोपनिषत्	१६. योगतत्त्वोपनिषत्
७ दर्शनोपनिषत्	१७ योगशिखोपनिषत्
८ ध्यानबिंदूनिषत्	१८ वराहोपनिषत्
९ नादबिंदूपनिषत्	१९. शाडिल्योपनिषत्
१० पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	२०. हसोपनिषत्

२. फिलासफ़ी आफ़ उपनिषत्स, पृ० २२-२६।

आसन बताए गए हैं। 'ब्रह्मविंदु और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदो मे नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदो मे चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदो में जालधर और उड्डियान बन्धो की चर्चा है। यह जोर देकर नही कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदे गोरक्षनाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कुछ मे प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमे से अधिकाश पर उनका प्रभाव पडा है, यह अस्वीकार नही किया जा सकता।

'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे प्रायः सभी मुख्य-मुख्य योगोपनिषदो के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किए गए हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो इस सग्रह में उपलब्ध नही हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदे ऐसी ही हैं। अड्यार लाइब्रेरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-सग्रह प्रकाशित किया था। उसमे 'शिवोपनिषद्' है पर और नहीं हैं। इस प्रकार 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पडते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धान्तों को सक्षेप मे यहाँ सग्रह किया जा रहा है।

ग्रथ के आरम्भ मे ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयो का मूल है, इसलिये बहुत सोच-समझ कर गुरु बनाना चाहिए।[१] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है, अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य मे वेद निवास करते हैं, पद-पद मे तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि मे कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे मे भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनो से अलिप्त है। 'सूत सहिता' मे कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओ का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बडा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वद्व से परे है। 'अवधूत गीता' मे कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं, कुछ अद्वैत को, पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नही है?[२] इसीलिये सिद्ध जालधर ने नाथ द्वैत और अद्वैत दोनो से परे—द्वैताद्वैतविलक्षण—कह कर स्तुति की है।[३]

---

१. तुलनीय—सि० सि० सं०, पचम उपदेश।

२, अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥ पृ० ११

३ वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरह भानुतेजस्कर वा।
सत्कर्तृव्यापक त्वा पवनगतिकर व्योमवन्निर्भर वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधर खर्परं भस्ममिश्र।
द्वैत वाऽद्वैतरूपं द्वय उतपर योगिन शंकरं वा॥

यह मत अपने को वेदान्तियों, साख्यो, मीमासको, बौद्धो और जैनो के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[१] श्रुति इन लोगो के मत से साधिका नही है।[२] वेद दो प्रकार के माने गए हैं, स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं। योगियो को इससे कोई वास्ता नही उनका मतलब तो केवल ओकारमात्र से है। यह ओकार ही सूक्ष्म वेद है।[३] पुस्तकी विद्या का इसमे बडा मजाक उडाया गया है।[४] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले मे एक मनोरजक कहानी दी गई है। शकराचार्य अपने चार शिष्यो सहित नदी तीर पर बैठे थे। वही भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिये कापालिक रूप से उपस्थित हुए और बोले कि 'आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आप का सिर काट लेने दीजिए।' शकराचार्य चक्कर मे पड गए। दोनो ओर आफत थी, देते हैं तो प्राण जाता है, नही देते तो अद्वैत मत स्वतः परास्त हो जाता है। उन्हें निरुपाय देखकर शिष्यो मे से एक ने नृसिह भगवान को स्मरण किया। वे तुरन्त घटनास्थल पर पहुँच भैरव से भिड गये। तब भैरव ने कापालिक वेश परित्याग कर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमद्र स्वर मे कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वदी को परास्त कर दिया। आओ युद्ध करो। शकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके क्योकि उनकी अद्वैत-साधना से सचित और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। एक कापालिको का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमे सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो प्रारब्ध कर्मों के प्रताप से शकर जड हो गए। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था मे उन्होने 'सिद्धान्त बिन्दु' की रचना की जो असल मे नातमत का ग्रथ है। इसी अवस्था मे उन्होने 'वज्र सूचिकोपनिषद्' भी लिखी।

मुक्ति क्या है ? मुक्ति वस्तुत नाथस्वरूप मे अवस्थान है। इसीलिये 'गोरक्ष-उपनिषद्' मे कहा गया है। अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नही है, सदानन्द वाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्यचार के पालन से नही मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती हैं, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बुद्ध जीव हैं—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैत-

---

१ देखिए ऊपर पृ० १-२।

२ पृ० २२-२८, ७५-७६।

३ पृ० २६।

४. तुल०—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पडित के हाथि रह गई पोथी।

—गोरखबानी, पृ० ४२

वादियो के क्रिया ब्रह्म मे विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियो के निष्क्रिय ब्रह्म मे। द्वैत-वादियो के स्थान हैं, कैलास और बैकुठ आदि, अद्वैतवादियो का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियो का निर्गुण स्थान है पर बधमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं क्योकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनो से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, वेद, यज्ञ, सूर्य, चद्र, निधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिक् और काल—सबसे पर स्वय ज्योति स्वरूप एकमात्र सच्चिदानद मूर्ति हैं।

> न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
> नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतल नो दिशो नैवकाल॰
> नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
> स्वज्योतिः सत्यमेक जयति तव पद सच्चिदानन्द मूर्ते।
> —सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति

३. प्रणव, सूक्ष्मवेद और परा संवित

इस देश मे निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल सहि-ताओ मे ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण आत्मज्ञान के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु सहिताभाग मे सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन मे कि 'अह विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' सर्वव्यापी ऐश्वर्य गुण सम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूलसहिताओ मे खोजे जा सकते हैं जहाँ आत्मा को सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापित्व, और सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों या गुणो से युक्त बताया गया है परन्तु उन्ही दिनो निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद मे कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'साख्य' कहते हैं। साख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्वचिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबमे पुराना दर्शन कहते हैं और महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप मे उद्धृत करते हैं—

> ज्ञान महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु साख्येषु तथैव योगे ॥
> यच्चापि दृष्ट विविध पुराणे साख्यागत तन्निखिल नरेन्द्र ॥

(हे राजन् ! बडे लोगो मे जो ज्ञान है, और जो पुराण, वेद, साख्य और योग-शास्त्र मे उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपो मे पुराणो मे पाया जाता है, वह सभी साख्य से ही आया है।)

साख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बताने वाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रो से जान पडता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन चिन्तन

आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे वे 'साख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यासवैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे वे योगी कहलाते थे। दोनो का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ कहते हैं कि मूलसूत्रो से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि साख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही हैं। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है कि ये दोनो तत्त्ववाद एक ही है। 'गीता' मे भगवान् ने कहा है कि केवल वालबुद्धि के लोग ही साख्य और योग को पृथक् मानते हैं, पण्डितजन ऐसा नही समझते। इस साख्यमत मे पुरुष अनेक हैं, प्रकृति उन्हें अपने वन्धन मे बाँधती है। हैं दोनो ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नही हो जाता तभी तक वह वन्धन मे है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुत. प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति मे तीन गुण-सत्व, रजस, तमस—साम्यावस्था मे रहते हैं। पुरुष के सयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धन रूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति हैं। गुणो की कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपो मे दिखाई दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप मे आ जाता है। केवल रूप मे बने रहने की इस अवस्था का ही नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप मे स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताए गए हैं।

इस अवस्था मे चेतनस्वरूप पुरुष स्वय ही स्वय को प्रकाशित करता है। इसीलिये योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। 'पातजल' मे पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य है (२।२०)। टीकाकारो ने 'दृशि' का अर्थ किया 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र' प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्व विशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है। केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य जो बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चल कर 'स्वसवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारो का विकास हुआ है।

यह संसार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या ग्रहीता, ग्राह्य और ग्रहण रूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र मे ग्रहीता और द्रष्टा मे अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, ग्रहीता विकारी। द्रष्टा और ग्रहीता एक जैसे तो हैं पर एक नही हैं। ग्रहीता वद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव मे कभी तो जानने की वृत्ति जागृत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिये वह केवल 'ग्रहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही ग्रहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखने वाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नही है। वह स्वसवेदन है। उपनिषदो मे कहा गया है कि जो ज्ञाता है उसे कौन जान सकता है। वह स्वय को जानता है, स्वय ही वेदक है, स्वय ही वेद्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नही है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोवर्तते— (वृह० उप०)।

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसवेद' बना है। 'सुसवेद' ही आगे चल कर 'सुच्छवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप मे परिवर्तित हुआ। यह सुच्छमवेद सस्कृत मे फिर से गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपथियो ने अपने सस्कृतग्रथो मे 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्ध सिद्धात सग्रह' मे सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद ये दो भेद किये गए हैं। (पृ० २२-२७ और पृ० ७५-७६)। इस ग्रथ के अनुसार स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ओकार है। क्योकि ओकार ही वेदो का सार है। यही निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते हैं। वेदान्त शास्त्र वेद-सम्मत सिद्धातो का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियो मे परात्परतत्व को समझाने के लिये अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गई हैं। उनमे से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महा वाक्य मान कर उसी के आलोक मे शेष अनुभूतियो की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए हैं—परन्तु सभी वेदान्ती मानते हैं कि मनुष्य का सब से बडा लक्ष्य—परम पुरुषार्थ —इस दु:खमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है उनके मत से ससार दु ख रूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न हैं, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नही रहा है उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी ग़लत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम परा विद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिये वेदान्त शास्त्र को 'अध्यात्म विद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते हैं। जो वास्तविक ज्ञान है उसे परा सवित् कहते हैं।

ससार मे ज्ञान के लिये तीन बाते वर्तमान रहती हैं। कोई जानने वाला होता है (ज्ञाता), कुछ बात जानी जाती है (ज्ञेय) और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार ससार मे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक् पृथक् होते हैं। परब्रह्म की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नही होते। जो ज्ञाता है (आत्मा) वही ज्ञेय भी है (परब्रह्म) और वही ज्ञान भी है (परा सवित्)। श्रुतियो मे कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्स्वरूप। सो, एक बार ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों मे कहें तो जो सवित है, जो सवेत्ता है और जो सवेदन है वह सब एक ही हैं। परासवित की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परा संवित् स्व-सवेदन ज्ञान है। स्वय स्वय को देखना ही स्वसवेद है। यही पराविद्या है, यही परासवित् है। इसीलिये जिस परतत्व को वेदान्त मे ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमो मे शिव कहा जाता है, उसे 'स्वय' नाम दिया जाता है—स्वय स्वय का प्रकाशक, स्वय स्वय का ज्ञाता और स्वय स्वय का ज्ञान :—

कार्य-कारण-कर्तृत्व यदा नास्ति कुलाकुल ।
अव्यक्तं परम तत्व स्वय नाम तदा भवेत् ।।

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य योग मे प्रथित निर्गुण आत्म-ज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रो मे अनेक प्रकार से इस परासवित् की महिमा बताई गई है। अनेक साधनाओ के बाद चित्तवृत्तियो का निरोध होता है, तब वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। वही महानन्दावस्था है। उसे केवल सवित्मात्र, स्वसवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्व साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव ने उस अवस्था मे स्थित हो जाता है और नानात्व का भेद-बुद्धि का, अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धात पद्धति' मे इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है—

निजावेशात् सम्यङ् निविडतम नैरुत्थ्यविधिवत् ।
महानन्दावस्यास्फुरति वितता काऽपि सततम् ।।
तत' सविन्नित्यामलसुख चमत्कारजनक ।
प्रकाशप्रोद्वोधो यदनुभवतो भेदविरह ।।

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नही समझाई जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसवेद्य है।

स्वसवेद्य ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप मे भी और अर्थरूप मे भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है? आत्म-ज्ञान के लिये आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक-ठीक मालूम हो जाय कि यह प्रपचात्मक भेद क्यो ऐसा दिखाई दे रहा है। इसके लिये शास्त्रो मे इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपच कैसे बना? बना तो क्या, अवभासित हो रहा है। इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है।

कोई नही बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपच कब शुरू हुआ। इसीलिये यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ अनेक होऊँ"—"एकोऽह बहुस्याम्"। क्यो उसे इच्छा हुई? उसे किस बात का अभाव था? कोई नही बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुत. सारा जगत् ज्ञान-इच्छा क्रिया रूप मे त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमो मे इस त्रिपुटीकरण वाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। शैव आगमो मे परब्रह्म को ही 'परशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपच की व्या-ख्या करते हैं। ज्यो ही ब्रह्म मे इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ त्योही वह सगुण हो

गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है, इसलिये शैवागम इसे 'सकल' परमात्मा कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द-विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपो की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमश· सूक्ष्म (सट्ल) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप मे व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने को अन्तवर्ती अवस्थाएँ अनेक होगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना-मार्ग के यात्रियो ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के वताये हे। मूल वात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा मे जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (वाईब्रेशन) है, उपनिपदो की भाषा मे 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नही कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्तरूप है। इसलिये शैव और शाक्त आगमो मे ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को 'नाद' कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानो से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है वहुत स्थूल। केवल वौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की वात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही विन्दु कहते हैं। 'शारदातिलक' (१७) मे कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित, सगुण) परमात्मा के रूप मे प्रकट हुए और उन्ही की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से विन्दु की उत्पत्ति हुई—

> सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमात्मन।
> आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्विन्दुसमुद्भव.।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, विन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान-इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, विन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दो वाली भाषा है। सो, जब हम उस तत्व को समझाने के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमे अँटती नहीं। इसलिये ऐसे प्रसगो मे भाषा को साधनमात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों मे इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिये प्रथम स्पन्द नादरूप मे प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठो को तो बन्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूलस्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिये, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप मे गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नही होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही

गति है विन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिये आवश्यक है, उसके साथ विन्दु भी। मकार अनुस्वार या चन्द्रविन्दु रूप मे ही तो बदलता है। अव 'अ' स्वर 'म्' व्यजन से रुद्ध हुआ। कठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पडी और ओष्ठ बन्द हो गए। बन्द होते होते वह 'उ' जैसा हो जाएगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नही हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठ कर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा ? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूलवर्णों से समझाया गया है, इसलिये इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी स्पन्द (कास्मिक वाईब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे—होगा इसीलिये यह ओकार विश्व का आरम्भ हैं। सगुणब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव', 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नही हैं। क्योकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नही हुआ। वह प्रति क्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिये केवल 'नव' कहना ठीक कहना नही है—वह 'प्रणव' है—'नवनव जायमान' है। स्वयवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नही कि नाथ-साधको ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि जो आदि ओकार को ठीक-ठीक जानता है वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को उस रहस्य के उस मूलकर्ता को जो लिख कर मिटाया करता है, जानता है। 'ज्ञान चौंतीसा' मे इसीलिये उन्होंने कहा है—

ओ ओकार आदि जो जाने। लिखि के मेटे सो सोई जाने ॥

इसी आरभिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिये इसे 'एकाक्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ओकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनो की भाषा मे बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नही हुआ। स्वसवेद्य ज्ञान मे ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है पर ओकार या एकाक्षरात्मक स्पन्दन या एजन मे वह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधको के यहाँ अर्थान्तर मे सक्रमित हुआ है।

आगमो मे ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, विन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा मे कहे तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। इस त्रिधा-विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरजन कहा जाता है। निरजन ही सकल परमात्मा या अपरब्रह्म के रूप मे अभिव्यक्त होता है।

परब्रह्म या परशिव से अपरब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार मे कोई विशेष उपयोग नही है। पर मध्यकाल के आगमो और निर्गुणमार्गी

साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक ग्रन्थ लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है परब्रह्म से निरंजन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गई है। उदाहरण के लिये नाथमत को लिया जाय। जब शिव में कार्यकारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्यकारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं तब वे शुभ और अशुभ के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वय' कहकर स्मरण करते हैं।[1]

इस परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनो में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं में गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परमशिव की अवस्थामात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरपदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है[2] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[3] इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव *पाँच अवस्थाओं में गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुणशिव* के रूप में प्रकट हुए और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या

---

१ कार्यकारणकर्तृत्व यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्त परम तत्व स्वय नाम तदा भवेत्॥
सि० सि० १।८ सत १।४।

२ निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पचधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिंड शिवे॥
सि० सि० स० १।१३।

३ ततोऽस्मितापूर्वमाविमार्श स्यादपर परम्।
तत्स्व सर्वेदनाभासमुत्पन्न परम पदम्॥
स्वेच्छामात्रततः शून्य सत्तामात्र निरजनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपद मतम्॥ वही, १।१४-१५।

कुण्डलिनी के रूप मे प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व मे व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्वप्रपच की उत्पत्ति पालन और विलय मे समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्म तत्त्व है। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा—

इसी प्रकार की योजना अन्य आगमो मे भी मिलती है। शब्द सब समय समान नही होते पर मतलब सबका एक ही होता है—परशिव का अपरशिव मे परिणत होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परतत्त्व के प्रथम उपक्रम को सहज नाम दिया जा सकता है। उसमे कोई भी वैशिष्ट्य नहीं आया परन्तु वैशिष्ट्य अकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा अकुर। फिर अकुर रूप मे प्राप्त होने की स्थिति इच्छा कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आरम्भिक इदता और अहता का योगसूत्र 'सोऽह' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और इससे इद और अह का अचिन्त्य ऐक्य स्वय अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युक्त परब्रह्म निरजन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निज रूप से क्षरित नही हुई है कही जा सकती है। इस प्रकार से संग्रह श्लोक बनेंगे—

सहजानन्द विभव यत्तत्त्व परत परम्।
सकलत्व गम्यमान सहज भावमास्थितम्।
अकुरत्व व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्तते।
इदताऽहन्तयोर्योग पर सोऽहमुदीर्यते।
अचिन्त्यरूपता याति अक्षर च तथाभवेत्।
तस्मात् सृष्टये यतन् देवो निरञ्जन इहोच्यते॥

अर्थात् सहजानन्द परतत्व से क्रमशः सहज—अकुर—इच्छा —सोऽहं—अचिन्त्य—अक्षर—निरञ्जन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है जो ऊपर कबीर मनसूर मे बताया गया है। कबीर मनसूर मे वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों को दृष्टि मे रख कर पौराणिक शैली मे कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधिदैविक भाषा मे कहने वाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली मे इन, अपरब्रह्म या निरजन भाव तक की, अवस्थाओ को लोक-विशेष के रूप मे कहा गया है और उन लोको के अधिष्ठातृ-देवता के रूप मे ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को बैठा दिया गया है। पुराणो मे और सहिताओ मे व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता है।[1]

योगसूत्र (१ २७) मे प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि प्रणव ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य है तो यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध किस प्रकार का है? क्या वह सकेत-कृत है अथवा प्रकाश-प्रदीप की भांति अवस्थित है? इस शका का तात्पर्य यह है कुछ पदार्थ हैं जिनमे पद या नाम का सकेत किसी एक शब्द के द्वारा होता है, जैसे घट। घट शब्द कहने से घडारूप पदार्थ का बोध होता है परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न भी किया जाए तो भी घडारूप पदार्थ ज्यो का त्यो बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान मे कोई बाधा नही उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे हैं जिनके लिये शब्दमय चिंतन की आवश्यकता होती है। सकेत उसमें

---

१. उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की बीजक टीका (पृ० २४०) मे उद्धृत 'सदाशिव सहिता' के ये वचन—

सौमित्रिरुवाच—
महर्लोकः क्षितेरुर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः।
कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः।
चतुष्कोटिप्रमाण तु तपोलोको विराजित.।
उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिपमाणतः।
आयु.प्रमाण कौमार कोटिषोडशसभवम्।
तदूर्ध्वोपरि सख्यात ब्रमालोको सुनिष्ठितम्।
शिवलोकस्तदूर्ध्व तु प्रकृत्या च समागतम्।
तदूर्ध्वं सर्व सत्वाना कार्यकारणमानिनाम्
निलय परम दिव्यं महावैष्णवसज्ञकम्।
यदूर्ध्वं तु पर दिव्य सत्यलोक व्यवस्थितम्
न्यासिना योगिना स्थान भगवद्भावितात्मनाम्।
महाशम्भुर्मदतेऽत्र सर्वशक्ति समन्वितः।
तदेर्ध्वं तु स्वय भात गोलोक प्रकृते. परम्। —इत्यादि

भी है किन्तु उस नाम का अर्थ तद्विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धो के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है, जैसे पिता। पिता एक सम्बन्ध विशेष है। इसका अपने आपमे कोई अर्थ नही है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्ति विशेष का पिता होता है। इसलिये पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुत: प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है। उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध मे पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव मे पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नही होगा। इसी लिये भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घडा' पदार्थ का, या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है। भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओऽम् शब्द ईश्वर का सकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ मे इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है सि प्रणव क्या उसी प्रकार का सकेत है जिस प्रकार अन्य पदार्थों के सकेत हुआ करते हैं? अनेक दार्शनिक सप्रदायो मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नही माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा मे एक अर्थ मे प्रयुक्त होता है दूसरी भाषा मे दूसरे अर्थ मे। फिर एक काल मे एक ही भाषा मे किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ मे होता है और दूसरे काल मे दूसरे अर्थ में। बहुत से पदार्थों के नये नाम भी गढ लिये जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का सकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नही है, वह एक प्रकाश की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम चाहे तो नही दे सकता, क्योकि अधिकांश मनुष्यो क चित्त मे पद्म शब्द दूसरे अर्थ मे सकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओऽम् क्या ईश्वर के पतञ्जलि मुनि ने संकेतिक कर दिया है या अन्य शब्दो की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसके उत्तर मे भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारो ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ मे व्यवहार करता है तब वह व्यवहार परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ओंकार का प्रश्न है वह अनादि काल से इसी अर्थ मे व्यवहृत होता आ रहा है। इस लिये विभिन्न सर्गों मे इसी अर्थ मे व्यवहृत होने के कारण ओंकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से होता आया है। श्रुति मे भी कहा है—'एतदालम्बन श्रेष्ठ एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमय:।
तस्योंकार स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नही। वे भाव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और मनोमय हैं। ओंकार उनका नाम स्मरण किया जाता है क्योकि उसके द्वारा

आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं कुछ लोगो का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थों मे सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते हैं। परन्तु अधिकाश टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नही। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पडता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की समाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार परम्परा कहते हैं। इसीलिये योगभाष्य के टीकाकारो ने इसे कूटस्थ-नित्यता की भाँति न बता कर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगो के व्यवहार के प्रवाह मे सदा इसका इसी अर्थ मे प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य है।'

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियो को प्रमाण रूप मे उपस्थित किया है। आगमो मे स्पष्ट कर दिया गया है कि ओकार घट-पटादि की तरह सकेतव्यापक शब्द नही है, वल्कि वह स्वय अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद मे ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नही है, वल्कि वाच्य का स्थूल उच्चारित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरगो को उत्पन्न कर रहा है। परमात्मतत्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप मे तरगित हो रही है उसी को स्थूल रूप मे श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ओकार है और उसी को नेत्र ग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और विन्दु रूप मे, उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ मे वाचक नही है जिस अर्थ मे घट-पटादि तत्तत् पदार्थों के वाचक हुआ करते हैं। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ओकार या प्रणव को सृष्टयर्थ उपक्रान्त परमेश्वर का रूप ही मानते हैं। स्थूल स्पन्द यह सम्पन्न शब्द और अर्थ दोनो ही हैं। इसीलिये वे ओकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर—वेद ही मानते हैं। इसी की नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नही है वल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखने की बात है कि 'पातजल योगसूत्र' के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नही किया, यह टीकाकारो के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारो की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते हैं—"सर्गान्तरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव सकेत. क्रियते सम्प्रतिपत्तिनित्यता नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिन. प्रतिजानते (१ २७)।"

ऊपर जो आगमो के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है उसके प्रकाश मे देखने से 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसक अर्थ है कि प्रणव का परमात्मत्वत के अर्थ मे व्यवहार विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय सकेतित नही हुआ, वल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वय-सिद्ध है। परन्तु फिर भी सूत्रकार और

भाष्यकार दोनो ने 'वाच्य-वाचक' शब्द का ही प्रयोग किया ही है। पुराणो मे भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' बताया गया है। टीकाकारो ने भी लिंग पुराण का यह वचन उद्धृत किया है—'शम्भो' प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जपादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगो ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशो से रहित, केवल अर्थात् मन, बुद्धि आदि से हीन, और इसीलिये अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य पुरुष विशेष है। वह आगमो के परमात्म-तत्त्व से भिन्न है। इसलिए आगमो द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व पातञ्जल योग द्वारा प्रथित ईश्वरतत्त्व से स्वरूपत भिन्न है। आगमो मे ओंकार को सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप मे समझ लेना चाहिए।

जैसा कि ऊपर बताया गया है प्रत्येक वस्तु मोटे तौर पर तीन रूपो मे प्रतिभासित हुआ करती है—पर (Supreme), सूक्ष्म (Subtle) और स्थूल (Gross)। ज्ञान भी यद्यपि अपने मूलरूप मे शुद्ध ज्ञान ही है तथापि लोक मे यह भी मोटी जानकारी अपेक्षाकृत सूक्ष्म जानकारी और विशुद्ध जानकारी के रूप मे प्रतिभासित होता है। जब हम किसी शब्द का वाच्य-वाचक-रूप मे प्रयोग करते हैं तो यह भी एक जानकारी ही है। घट शब्द का अर्थ घड़ा है—यह एक मोटा ज्ञान है। कई बार ऐसा होता है कि कोई पद भी मालूम रहता है और उनका अर्थ भी मालूम रहता है। दोनो के सामने उपस्थित रहने पर भी उनका सम्बन्ध अज्ञात रहता है। उदाहरण के लिए कोविदार शब्द लीजिये। काव्य पढने से और कोश मे उसका अर्थ भी लिखा रहने से मुझे मालूम है कि यह किसी फूल का नाम है। मान लीजिये कि मैं किसी बगीचे मे जाता हूँ। वहाँ कोविदार के पेड भी लगे हुए हैं और उनमे फूल भी हैं। वहाँ कोविदार पदार्थ मेरे सामने हैं। मुझे कोविदार पद भी मालूम है और कोविदार पदार्थ भी सामने है। परन्तु जब तक कोई जानकार आदमी बता नही देता कि इसी का नाम कोविदार है तब तक मुझे कोविदार पद और पदार्थ के सम्बन्ध का पता नही चलता। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनो का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलाने वाला तत्त्व-द्रष्टा का चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वही चेतन-द्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नही तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पडेगा कि किसी चेतनतत्व की प्रतीति भी इसके साथ सबद्ध है। लेकिन आगमो के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्मवेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नही है, ज्ञेय भी नही है। वह स्वय ज्ञान है। दूसरे शब्दो मे ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल-ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिये उसे वाचक नही कहा जा सकता। परन्तु उसमे भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नही है। वहाँ भी ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों मे अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरो को कभी बीज,

नाद और विन्दु कहा गया है, कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। ये स्थूल बीज, नाद और विन्दु से भिन्न, केवल भावरूप मे वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म है। यही कारण है कि आगमो मे यज्ञ-याग का विधान करने वाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूलवेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधनभूत सामग्रियो को रूप देने वाले, भावरूप मे वर्तमान ओकार रूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्मवेद कहा है। यह भी साधन है। परज्ञान नही है, अपरज्ञान है। परज्ञान तो परासवित् जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शनमात्र है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिये परा सवित् इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमो मे इस परासवित् की महिमा इस प्रकार बताई गई है—"प्रत्येक पिण्ड मे वही चचला परासवित् रूपाधित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव मे उसी परासवित् का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार मे उसी परासवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासवित ही ससार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों को रूप, प्रकाश और बोध के रूप मे प्रकाशित हो रही है।

१२

गोरक्षनाथ के समसामयिक और परवर्ती सिद्ध

नाथपथ के चौरासी सिद्धो मे से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन उभय सामान्य सिद्धो मे से कुछ तो गोरखनाथ के पूर्ववर्ती होंगे और कुछ समसामयिक। गोरखनाथ के अप्रतिद्वन्द्वी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि उनके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परम्परा का सिद्ध नही माना गया होगा जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिन सम्प्रदाय-प्रवर्तक सिद्धो की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उनके अतिरिक्त निम्नलिखित सिद्धो के विषय मे नाना मूलो से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सके हैं (अधिकाश मे यह बाते दन्तकथाओ पर ही आधारित हैं पर कुछ बाते समसामयिक या परवती ग्रथो से भी मिल जाती हैं।)

१. चौरगीनाथ
२ चामरीनाथ
३. तंतिपा
४. दारिपा
५. विरूपा
६ कामरी
७. कनखल
८. मेखल
९ धोबी
१० नागार्जुन
११ अचिति
१२ चम्पक
१३. ढेण्टस
१४ चुणकर
१५. भादे
१६. कामरी
१७ धर्मपापतग
१८ भद्रपा
१९ सवर
२० सान्ति
२१. कुमारी
२२. सियारी
२३. कमलकगारि
२४ चर्पटीनाथ

नीचे हम इनका सक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

१. चौरगीनाथ—तिव्वती परम्परा मे गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गये हैं।[1]

---

१. गगा : पृ० २६०

इनकी लिखी कही जाने वाली एक पुस्तक—'प्राणसकली'—पिण्डी के जैन ग्रन्थ भाण्डार मे सुरक्षित है। इसमे इन्होंने अपने को राजा सालवाहन का बेटा, मच्छद्रनाथ का शिष्य और गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। इस छोटी-सी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि इनकी विमाता ने इनके हाथ पैर कटवा दिए थे। ये ही पजाब की लोक कथाओ के पूरनभगत हैं जिनके विषय मे हम आगे कुछ विस्तार पूर्वक लिखेंगे। चौरगीनाथ की 'प्राण सकली' की भाषा शुरू मे पूर्वी है पर बाद मे राजस्थानी-जैसी हो जाती है। शुरू का अश इस प्रकार है—

> सत्य वदत चौरगीनाथ आदि अन्तरि सुनौ त्रितात सालवाहन घरे हमारा जनम उतपति सतिमा झुट बोलीला ।।१।। हू अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नही हमारे मने हाथ पाव कटाय रलायला निरजन बने सोष सन्ताप मने परभेव सनमुष देषीला श्री मछद्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाइला माथा ।।२।। आसीरवाद पाइला अम्हे मने भइला हरषित होठ कठ तालुकारे सुकाईला घर्मना रूप मच्छद्र-नाथ स्वामी ।।३।। मन जाने पुन्य पाप मुष वचन न आवै मुषै बोलव्या कैसा हाथ रे दीला फल मुषे पीलीला ऐसा गुसाईं बोलीला ।।४।। जीवन उपदेस भाषिला फल आदम्हे विसाला दोष बुभ्या त्रिषा बिसारला ।।५।। नही मानै सोक धर धरम सुमिरला अम्हे भइला सचेत के तम्ह कहारे वाले बोले पुछीला ।।६।।

स्पष्ट ही यह भाषा पूर्वी है। यदि 'प्राण सकली' सचमुच चौरगीनाथ की रचना है तो मानना पडेगा कि चौरगीनाथ पूर्वी प्रदेश के रहने वाले थे। मैं इस पुस्तिका का सपादन कर रहा हूँ। ऐसा जान पडता है कि इसमे पुराने अशों के साथ नये अश भी जोड दिए गए हैं। जितनी भी परपराएँ उपलब्ध हैं वे सभी पूरनभगत को स्यालकोट (पजाब) से ही सबद्ध बताती हैं। 'तनजुर' मे चौरगिपा की एक पुस्तक है जिसका नाम है 'तत्त्व भावनोपदेश'। ठीक इसी नाम की एक पुस्तक गोरक्षपाद की भी बताई जाती है। इतना यहाँ और उल्लेख योग्य है कि 'प्राण सकली' नामक एक छोटी-सी रचना भी गोरखनाथ की मानी जाती है। ऐसा जान पडता है कि चौरगीनाथ नामक किसी पूर्व देशीय सिद्ध की कथा से पूरनभगत की कथा का साम्य देख-कर दोनों को एक मान लिया गया है।

२. **चामरीनाथ**—सभवतः तिब्बती परपरा के चौसठवें सिद्ध चॅवरिपा से अभिन्न हैं जिन्हें मगधदेश का रहने वाला घी-विक्रेता बनिया जाति मे उत्पन्न और गोरक्षनाथ का परवर्ती बताया गया है।

३. **ततिपा**—तेरहवे बज्रयानी सिद्ध ततिपा हैं। इन्हे तिब्बती परम्परा मे मगध देश का ब्राह्मण और जालधरपाद का शिष्य कहा जाता है। राहुलजी ने 'गगा के पुरातत्त्वांक मे एक स्थान पर इन्हें मगधदेशवासी ब्राह्मण (पृ० २२१) लिखा है और दूसरी जगह अवन्ती देश का तांती (पृ० २५६)। नाम देखने से दूसरी ही बात

ज्यादा विश्वसनीय जान पडती है। कभी कभी इन्हें ढेण्ढणपाद से अभिन्न भी माना गया है जो ठीक नही जान पडता।

४ दारिपा—सभवत. वज्रयानी सिद्ध (न० ७७) दारिकपा से अभिन्न हैं। इन्हे उडीसा का राजा बताया गया है। जब परम सिद्ध लुईपा (लूहिपा) उधर गए तो ये और इनके ब्राह्मण मन्त्री उनके शिष्य हो गए। गुरु ने इन्हे वेश्या दारिका (वेश्या-की कन्या) की सेवा का आदेश दिया था। इस व्रत मे उन्हे सफलता मिली। दारिका (लडकी) की सेवा करके सिद्धि पाने के कारण इन्हें 'दारिकपा' कहा जाने लगा। इनके निम्नलिखित पद से इनके राजा होने का तथा लुइपा का शिष्य होने का अनु-मान किया जा सकता है।

> राआ राआ राआ रे
> अबर राअ मोहेर बाधा।
> लुइ पाअ पए दारिक
> द्वादश भुवनें लाधा॥

अर्थात्, 'राजा तो मैं अब हुआ हूँ और राज्य तो मोह के बधन हैं। लुई पद के चरणों का आश्रय करने से दारिक ने चौदहो भुवन प्राप्त कर लिया है।' महामहोपाध्याय प० हर प्रसाद शास्त्री ने इन्हें बगला का कवि माना है'[1] और महापडित श्री राहुल साकृत्यायन ने उडिया का[2]। इनके लोकभाषा मे लिखित कई पद प्राप्त हुए हैं। भाषा उनकी निस्सन्देह पूर्वी प्रदेशो की है लेकिन वह उस अवस्था मे है जिसे आज को सभी पूर्वी भाषाओ का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सहजयोगिनी चिन्ता इन्हीं की शिष्या थी और घटापा शिष्य थे। 'तनजुर' मे इनकी लिखी ग्यारह पोथियाँ सगृहीत हैं।

५ विरूपा—वज्रयानी सिद्ध तीसरे से अभिन्न। गोरक्षनाथ और कानिपा के समकालीन थे। सिद्ध नागबोधि के शिष्य थे। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि वज्र-यान और कालचक्रयान दोनो में इनकी पुस्तके मान्य हैं। पुस्तको मे 'छिन्नमस्तासा धन', 'रक्तयमारि साधन' प्रसिद्ध हैं। इनकी चार पुस्तके गान की हैं—'विरूपगीति का', 'विरूप पदचतुरशीति', 'कर्मचण्डालिका,' 'दोहाकोष गीति' और 'विरूपवज्र गीतिका'।[3] इनके अतिरिक्त 'अमृत सिद्धि मार्ग फलान्वितापवादक' और 'सुनिष्पच तत्वोपदेश' भी इनके लिखे हैं।[4] इनका सिर्फ एक पद मूल रूप मे उपलब्ध हुआ है जो बौ० गा० दो० मे और गगा के पुरातत्वांक मे भी संगृहीत है।

---

१. बौ० गा० दो० : पृ० ३०।
२. गगा : पृ० २५१।
३ बौ० गा० दो० : पृ० २८।
४. गगा : पृ० २५०।

६ कमारी—यदि वज्रयानी सिद्ध पैंतालीस से अभिन्न हो तो जाति के लुहार थे ।

७ कनखल—वज्रयानी सिद्धयोगिनी कनखला । (न० ६७) से अभिन्न जान पडती हैं । ये कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) की शिष्या थी । छपे 'वर्णरत्नाकर' मे इनका नाम केवल षल (खल) है जो सभवत. गलती से छपा है । इसका पूर्ववर्ती भाग (कन) कान्ह के नाम के साथ जुड गया है ।

८ मेखल—सिद्धयोगिनी मेखलापा (न० ६६) से अभिन्न जान पडती हैं । ये भी कानिपा की शिष्या थी । कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) के 'दोहा कोष पर मेखला नाम की सस्कृत टीका' सभवतः इन्ही की लिखी हुई है । तिब्बत मे ये छिन्न-मस्ता देवी के रूप मे पूजी जाती हैं ।

९ धोबी—वज्रयानी सिद्ध अट्ठाईस से अभिन्न जान पडते हैं । सालिपुत्र (?) देश मे धोबी कुल मे उत्पन्न हुए थे ।

१० नागार्जुन—माहायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे । अलबेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्तमान थे । साधन माला मे ये कई साधनाओ के प्रवर्तक माने गए हैं । इन साधनाओ से कई बातो का खुलासा होता है । नागार्जुन, शबरपाद (सबर) और कृष्णाचार्य का काल भी मिल जाता है ।

'साधन माला' मे कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है । इस कुरु-कुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया गया है । डा० विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं जिनका समय सप्तम शताब्दी सन ईसवी का मध्यभाग है । ये नागार्जुन के शिष्य थे । नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना का प्रवर्तन किया था । 'साधन माला' मे बताया गया है कि इस एकजटा देवी की साधना की नागार्जुन-पाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था । इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है । तारा की उपासना ब्राह्मण तन्त्रो मे भी विहित है । 'साधन माला' मे कुरुकुल्ला के भी अनेक रूपो का वर्णन है जिन मे एक रूप है तारोद्भवा कुरुकुल्ला । इस प्रकार कुरुकुल्ला, एकजटा और तारा की उपासनाओ मे कोई सम्बन्ध स्पष्ट ही मालूम होता है । डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने 'परानन्द सूत्र की भूमिका' (पृ० १०-११) मे दिखाया है कि महाचीन तारा ने ही आगे चल कर हिंदुओ की चतुर्भुजी तारा (जो दस महाविद्याओ मे हैं) का रूप ग्रहण किया है । हिंदू तन्त्रो की उग्रा, महोग्रा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी आदि देवियो को तारा की ही अभिव्यक्ति बताया गया है । दस महाविद्यालयो की छिन्नमस्ता को बोद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है और कहा गया है कि इसकी उपासना के भी मूल प्रवर्तक शबरपाद ही थे । ऐसा जान पडता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे । कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत मे छिन्नमस्ता के रूप मे पूजी जाती हैं । इससे दो बातों का अनुमान होता है । प्रथम तो कृष्णाचार्य का समय निश्चित रूप से शबरपाद के वाद

सिद्ध होता है और दूसरा यह कि परवर्ती शाक्त मत के विकास मे इनका बहुत बडा हाथ है।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र मे पुराकाल मे पार्श्वनाथ की एक रत्नमूर्ति द्वारका के पास डूब गई थी जिसे किसी सौदागार ने उद्धार किया था। गुरु से यह जान कर कि पार्श्वनाथ के पादमूल मे बैठ कर यदि कोई सर्व-लक्षण समन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधीरस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चद्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद-मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रो ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इस कथा मे कई ऐतिहासिक असगतियाँ हैं पर इससे कुछ बाते स्पष्ट हो जाती हैं। (१) प्रथम यह कि नागार्जुन रसेश्वर सिद्ध थे (२) दूसरी यह कि गोरखपथियो की पारसनाथी शाखा के प्रवर्त्तक भी शायद वही हैं और (३) तीसरी यह कि वे पश्चिम भारत के निवासी थे। नागार्जुन को परवर्ती योगियो ने "नागा अरजद" कहा है। इनके सम्बन्ध मे अनेक किंवदन्तिया प्रचलित हैं। नाथपथ के बारह आचार्यों मे इनकी गणना है।

एक परवर्ती सिद्ध नागनाथ के साथ भी कभी-कभी इनको मिलाकर दोनो को अभिन्न मान लिया जाता है।

११ अचिति—वज्रयानी सिद्ध अचिन्तिपा (न० ३८) से अभिन्न। घनिरूप देश मे लकडहारे का काम करते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार लकडी काट कर इन्होने उसे एक नाग से बाँध लिया था। अपने आप मे इतने मस्त थे कि उन्हें पता ही नही चला कि नाग है या रस्सी उपयुक्त शिष्य देखकर इन्हे जालधर नाथ के शिष्य कानिपा ने दीक्षा दी थी।

१२ चम्पक—चम्पारण्य देश (आधुनिक चपारन) के निवासी थे। 'तनजुर' मे इनका एक ग्रथ 'आत्मपरिज्ञान दृष्टि उपदेश' नाम से उपलब्ध है।

१३. ढेन्टस—सभवत. ढेण्ढण पाद का नाम ही विकृत होकर ढेन्टस हो गया है। बौ० गा० दो० मे इनका पद सगृहीत है।

१४. चुणकरनाथ—डा० बडथ्वाल ने उन्हें गोरखनाथ के समय का सिद्ध माना है। इनके कुछ पद हिन्दी मे मिले हैं। इन पदो की भाषा को देखकर डा० बडथ्वाल ने इन्हे चरपटनाथ का पूर्ववर्ती समझा है। (योग प्रवाह, पृ० ७२)

१५. भादे—तिब्बती परपरा मे इन्हें श्रावस्ती का ब्राह्मण और कानिपा का शिष्य कहा गया है। जाति के चित्रकार थे। बौ० गा० दो० मे इनका एक पद संग्रहीत है।

१६ कामरी—बज्रयानी सिद्ध कवलावरपाद (कमरिपा) से शायद भिन्न नही है। ये बौद्ध दर्शन के बडे मान्य पडित थे। प्रज्ञापारमिता दर्शन पर इनके चार ग्रथ भोट भाषा में प्राप्य हैं। सुप्रसिद्ध सिद्ध वज्रघटापाद के शिष्य और राजा इन्द्रभूति के

गुरु थे। राहुल जी ने (गगा पृ० २५२) इन्हे उडीसा देशवासी कहा है। हरप्रसाद शास्त्री इन्हे बगला कवि समझते हैं। (पृ० ३७) वस्तुतः ये मगध मे उत्पन्न ब्राह्मण थे और दीर्घकाल तक उड्डियान मे रहे थे। वज्रयान के ये प्रसिद्ध आचार्य और युगनद्ध हेरुक के उपासक थे।

१७ धर्मपापतंग—जान पडता है कि धर्मपा और पतग दो नाम हैं जो गलती से एक साथ पढ दिये ग ; हैं। इन्ही का दूसरा नाम गुण्डरी पाद है जाति के लुहार थे। इनके पद बौ० गा० दो० मे प्राप्य हैं।

१८ भद्रपा—तिब्बती परम्परा के अनुसार मणिभद्र देश के ब्राह्मण थे। राहुल जी का अनुमान है कि मणिधर देश, बघेलखड का मैहर है।

१९. सबर—इस नाम के दो सिद्ध हो गए हैं। एक राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के कायस्थ लूहिपा के गुरु और दूसरे दसवी शताब्दी के सिद्ध। दोनो को एक दूसरे से घुला मिला दिया गया है। सबर के लिखे अनेक ग्रथ भोट अनुवाद मे सुरक्षित हैं। (गगा पृ० २४७) प० हरप्रसाद शास्त्री ने इनकी पुस्तक वज्रयोगिनी साधन के आधार पर अनुमान किया है कि ये उडीसा के राजा इन्द्रभूति और उनकी कन्या लक्ष्मीकरा के दल के आदमी थे। इन लोगो ने उडीसा मे वज्रयान का वडा प्रचार किया था (बौ० गा० दो० २९)। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ही उड्डियान उडीसा ही है ? इस बात का विचार हम पहले ही कर आए हैं। वज्रयोगिनी के सबध मे इनकी कई पुस्तके हैं। इनके दो गान बौ० गा० दो० मे सग्रहीत हैं।[1] डा० भट्टाचार्य ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य माना है। उनके मत से महायान मत मे जो करुकुल्ला की साधना है उसके आदि प्रवर्तक यही हैं।

२० सान्ति (शान्ति)—वज्रयानी सिद्ध बारह से अभिन्न। इस नाम के अनेक सिद्ध हुए हैं (बौ० गा० दो० पृ० २९) परन्तु दसवी शताब्दी मे एक बहुत वडे पडित विक्रमशिला बिहार के द्वाररक्षक पडित के रूप मे नियुक्त थे। उनका नाम भी शान्ति-पाद था। सभवत नाथ सिद्ध यही होगे। राहुल जी ने (गगा० पृ० २५८) लिखा है कि मगध देश मे ब्राह्मणकुल मे इनका जन्म हुआ था। ये इतने वडे विद्वान् थे कि इन्हें लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करते थे। बौद्धदर्शन पर इनके लिखे अनेक ग्रथ थे जो भोट अनुवाद मे ही शेष रह गए हैं। राहुल जी ने लिखा है कि वज्रयानी सिद्धो मे इतना जबर्दस्त पडित दूसरा नही हुआ।

२१ कुमारी—सभवतः वज्रसिद्ध कुमारिपा से अभिन्न है।

२२ सियारी—वज्रयानियो के एक सिद्ध का नाम शृगालीपाद है जो मगध के शूद्रकुल मे उत्पन्न हुए थे और महाराज महीपाल (९७४-१०२६ ई०) के राज्य-काल मे वर्तमान थे। सियारी और ये अभिन्न हो भी सकते हैं।

२३. कमल कगारी—जान पडता है ये दो सिद्ध हैं, गलती से हरप्रसाद शास्त्री

---

१. परानदसूत्र की प्रस्तावना : पृ० १०-११।

महाशय ने एक मे लिख दिया है। वज्रयानी सिद्धो मे एक कमलपा या कपालपा हो गए हैं जो दसवी शताब्दी मे वर्तमान थे और सभवत: बगाल मे शूद्रकुल मे उत्पन्न हुए थे। छपे हुए 'बर्णरत्नाकर' मे कमल और कगारी दो सिद्ध माने गए हैं।

२४ चर्पटीनाथ—डा० मोहनसिंह ने पजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी की ३७४ न० की हस्तलिखित प्रति से चर्पटीनाथ के नाम पाई जाने वाली एक कविता अपनी पुस्तक के परिशिष्ट (पृ० २०) मे उद्धृत की है और इसका अग्रेजी भाव भी दिया है। इसमे एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि चर्पटीनाथ ने भेष के जोगी को बहुत महत्त्व नहीं दिया है, आत्मा का जोगी कहलाने को ही बहुमान दिया[1] है। इसके अन्त मे बाह्याचार धारण करने वाले अन्य सप्रदायो की व्यर्थता भी बताई गई है। जब काल की घटा सिर पर चढ आएगी तो स्वेत या नील पट या लबी जटा, या तिलक या जनेऊ कुछ भी काम नहीं आएगा। इन बाह्याचारो के साथ कान फाडने वालो को भी एक ही सुर मे सावधान किया गया है।

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लबि जटा।
इक फीए एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा।

इससे मिलता-जुलता पद हिंदू विश्वविद्यालय की एक प्रति से डा० मोहनसिंह ने ही संग्रह किया है।[2] उसमें कान फाडने वालो की बात नही है, पर उन सिद्धो को सावधान किया गया है जो हठ करके तप करते हैं।

इस संसार कटिओ की बाडी
निरख निरख पगु धरना।
चरपटु कहै सुनहु रे सिधो
हठि करि तपु नहि करना॥

श्री सत संपूर्णसिंह ने तरनतारन से 'प्राणसंगली' छपाई है उसमे चरपटीनाथ तथा गुरु नानक देव की बातचीत छपी है। उसमे भी यह पद है—

---

१ सुधु फटकि मनु गिआनि रता। चरपट प्रणिवै सिध मता।
बाहिरि उलटि भवन नहि जाउ। काहे कारनि काननि का चीरा खाउ।
विभूति न लगाओ जिउतरि उतरिजाइ। खर जिउ धूडि लेटे मेरी बलाई।
सेली न बांधो लेवो ना म्रिगानी। ओढउँ ना खिथा जो होइ पुरानी।
पत्र न पूजो उडा न उठावो। कुत्ते की निआईं मांगने न जावो।
बासी करि के भुगति ना खाओ। सिंघिआ देखि सिंगी न बजाओ।
दुआरि दुआरे धूआ न पाओ। भेखि का जोगी न कहावो।
आतिमा का जोगी चरपटनाउ।

२, पृ० २३।

इक पीत पटा इक लब जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जगम कही अै भसम घटा, जउलइ नहीं चीनै उलटि घटा ॥
तब चरपट सगले स्वांग नटा।

—अध्याय ७६, पृ० ७६४

यहाँ प्रसग से ऐसा जान पडता है कि चरपटनाथ रसायन सिद्धि की खोज में थे और निराश हो चुके थे। इस पद का भाव यह है कि वेश बनाने से क्या लाभ, सभी वेश तब तक स्वाग मात्र हैं जब तक उनसे मृत्यु को जीतने मे सहायता न मिले। यदि मृत्यु पर विजय ही नही मिली तो इन टटो से क्या लाभ ? और मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही हो सकती है। सारी वार्ता रसायन के विषय मे ही है।

इनके अतिरिक्त एक और अतिच्छिन्न हस्तलेख से भी कुछ अश संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक मे छपाया है। इन सारे वाक्यो को पढ़ने से दो बाते बहुत स्पष्ट है . (१) चर्पटीनाथ बाह्य वेश के विरोधी थे और (२) कनफटा सप्रदाय मे रहकर भी उसकी बाह्य-प्रक्रियाओ को नही मानते थे। यह प्रवृत्ति नाथ-मार्ग मे कब आई, यह विचारणीय है। 'वर्णरत्नाकर' मे चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना तो स्पष्ट है कि चौदहवी शताब्दी के पहले वे अवश्य प्रादुर्भूत हो चुके थे। 'प्राणसगली' के वार्तालाप से यह भी मालूम होता है कि वे रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। इस पर से सिर्फ इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि वे गोरक्षनाथ के थोडे परवर्ती थे, सभवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धो के दल से आकार गोरक्षनाथ के प्रभाव मे आए थे और अन्त तक बाह्य वेश के विरोधी बने रहे।

उनसठवें वज्रयानी सिद्ध का नाम भी चर्पटी है। तिब्बती परपरा मे उन्हें मीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथ-परपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार गोरक्षनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। मीन चेतन मे इन्हें कर्पटीनाथ कहा गया है। इनके 'चतुर्भवाभिवासन क्रम' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। रज्जबदास के 'सरबगीग्रथ' में इन्हे चारणी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डा० बडथ्वाल ने लिखा है कि चबा रियासत की राजवशावली मे इनकी चर्चा आती है। बोगेल और ओमेन ने बताया है कि चबा के राजप्रासाद के सामने वाले मदिरो मे चर्पट का मदिर है जो सूचित करता है कि अनुश्रुतियो का राजा साहिल्ल देव सचमुच ही चर्पट का शिष्य था (योग प्रवाह पृ० १८३ और आगे) इनके कुछ हिंदी पद 'योग प्रवाह' मे संगृहीत हैं।

२. परवर्ती सिद्ध

स० २०१४ वि० काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है (स०— ह० प्र० द्विवेदी)। इसमे निम्नलिखित सिद्धो की कही जानेवाली वाणियाँ हैं।

(१) अजयपाल जी
(२) काणेरी (सती, पाव)
(३) गरीवजी
(४) गोपीचन्द्र जी
(५) घोडाचोली
(६) चरपटनाथ
(७) चौरगीनाथ
(८) चौणकनाथ (चुणकर नाथ)
(९) जलन्ध्री पाव
(१०) दत्त जी (दत्तात्रेय)
(११) देवल जी
(१२) धूधलीमल जी
(१३) नागाअर्जनजी
(१४) पार्वतीजी
(१५) पृथ्वीनाथजी
(१६) वालानाथजी
(१७) वालगुन्दाई
(१८) भरथरी
(१९) मच्छेन्द्रनाथजी
(२०) महादेवजी
(२१) रामचन्द्र जी
(२२) लषमणजी
(२३) सतवन्ती जी
(२४) सुकुल हसजी
(२५) हणवन्त जी

इनमे महादेव-पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्त रचनाओ के वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह कहना कठिन है। इन पदो मे किसी सिद्ध ने इन देवताओ के उपदेश देशी भाषा मे लिख लिए होंगे, शेष मे से कुछ का पता विविध स्रोतो से चल जाता है। कुछ सिद्धो के बारे मे वहुत-कुछ निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वे गोरखनाथ के समसामयिक रहे होगे। मच्छन्द्रनाथ तो उनके गुरु ही थे, शेष मे से चौरगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ, और चरपटी नाथ के वारे मे जो सूचना प्राप्त है उनके आधार पर इन्हें गोरखनाथ का समसामयिक या थोडा परवर्ती माना जा सकता है।

इनमे चौरगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ, भरथरि, गोपीचन्द और चरपट या चरपटीनाथ के वारे में ज्ञात सामग्री का कुछ परिचय दिया जा चुका है। शेष के बारे मे कुछ विचार किया जा रहा है।

१ **काणेरी**—इस संग्रह में काणेरी के कई पद हैं। कुछ लोग कानफा और काणेरी को एक ही सिद्ध मानते हैं। योगि सम्प्रदायाविष्कृति' मे कृष्णपाद को ही कर्णरिपा या काणेरी नाथ कहा गया है। किंतु प्रेमदास ने अपनी सिद्धवन्दना मे इन दोनो को अलग-अलग सिद्ध समझा है। जान पडता है काणेरी के दीर्घ ईकारांत रूप को देखकर परवर्ती काल मे इन्हें स्त्रीसिद्ध मान लिया गया है। इनके नाम से पाए जाने वाले पद एक प्रति मे सती काणेरी के नाम से मिलता है तो दूसरी प्रति में काणेरी पाव के नाम से। कृष्णपाद, कान्हूपा, कानफा आदि नामो को मैंने एक ही माना है और उनके विषय में अन्यत्र विस्तार से लिखा है। ये जालधर पाद के शिष्य थे और गोरखनाथ के समसामयिक थे। चर्यापदों मे इनके गान मिलते हैं और उन्होने स्वय अपने को कापालिक कहा है। वर्तमान नाथ पथ मे इनके नाम का एक उप-सम्प्रदाय (वामारग, वाममार्ग) आज भी जीवित है परन्तु उसे आधा सम्प्रदाय ही माना जाता है। इनके

दोहो का एक सग्रह दोहाकोष नाम से हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया था उस पर मेखला नामक सस्कृत टीका भी मिलती है जो सभवत. इनकी शिष्या मेखला की लिखी हुई है।

२ गोपीचन्द्र—गोपीचन्द्र या राजा गोविन्दचन्द्र जालधर के नाम के शिष्य बताये जाते हैं। माता के उपदेश से इन्होंने अपनी दो सुन्दरी रानियो—उदुना और पुदुना (उज्यिनी और पद्मिनी)—को छोडकर वैराग्य लिया था। रानियो ने इन्हें फिर से गृहस्थ धर्म मे प्रवेश करने का आग्रह किया था परन्तु ये वैराग्य मे दृढ रहे। गोपी यन्त्र या सारगी के ये ही आविष्कर्ता माने जाते हैं।

३ भरथरी—भर्तृहरि का प्राकृत रूप है। भर्तृहरि सस्कृत साहित्य मे बहुत परिचित हैं। उनके तीन सतक काव्य मर्मज्ञो के हृदय हार बने हुए हैं। 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण ग्रथ के भी ये रचयिता माने जाते हैं। सभवतः ये सन् ईस्वी की सातवी शती के पूर्व वर्तमान थे। क्योकि इतसिंग नामक चीनी यात्री ने जो ६७८-६९५ ई० तक बौद्ध देशो का भ्रमण करता रहा, इनके नाम और ग्रथो से परिचित था। ह्वेनत्साग ने भी इनकी चर्चा की है। और इन्हें बौद्ध बताया है। परन्तु इनके ग्रथो को देखने से ये शैव ही जान पडते हैं। छठी-सातवी शताब्दी की लोकभाषा के अन्य कवियो के लिखे हुए जो नमूने प्राप्त हैं, उनसे मिलान करने पर प्रस्तुत सग्रह में भरथरी के नाम से सगृहीत पदो की भाषा आर्वाचीन मालूम होती है। जान पडता है कि भर्तृहरि ने लोकभाषा मे कुछ पद लिखे थे जिनकी भाषा क्रमश· बदलती गई। नाथ-मार्ग मे अनेक पुराने सप्रदायो के अतर्भुक्त हो जाने के बाद भर्तृहरि के ये पद भी नाथ सिद्धो के सग्रहो मे गृहीत हो गये पर उनकी भाषा बहुत बदल गई। हमारे सग्रह मे उनका जो रूप उपलब्ध है वह पद्रह शताब्दी के पहिले का नहीं हो सकता।

वैराग्य शतक कई श्लोक अत्यत भ्रष्ट रूप मे सगृहीत हैं। इनके भ्रष्ट रूप को देखकर कदाचित् भाषा विशेषज्ञो को कोई नयी बात सूझ जाय इस आशा से उन्हें ज्यो-का-त्यो सग्रह कर दिया गया है।

४ अजयपाल—(अजैपाल) डा० बडथ्वाल ने इन्हें गढवाल का राजा माना है। इनकी रचनाओ मे 'दीवान' पद मुसलिम दरबार के दीवानो की याद दिलाता है। 'तम्बा' (तम्बू कैम्प) भी इस अनुमान की पुष्टि करता है कि वे मुसलिम काल मे ही पैदा हुए थे। प० हरिकृष्ण रतूडी का मत है कि राजा अजयपाल ने ही राज-राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनो मन्दिरो की स्थापना सवत् १५१२ के लगभग की जब राजधानी चाँदपुर से हटाकर देवलगढ मे स्थापित हुई (योग प्रवाह पृ० २०२) इस प्रकार अजयपाल का समय पन्द्रहवी शताब्दी मे होना चाहिए। बडथ्वाल जी का कहना है कि ये राजा थे, इसका एक प्रमाण यह है कि नाथसिद्धो मे सिर्फ तीन ऐसे हैं जिन्हें नाथ या पाव जैसे आदरार्थक विशेषण सहित नहीं स्मरण किया गया, भरथरी, गोपी-चद और अजैपाल। प्रथम दो राजा थे, इसलिये ये भी राजा रहे होंगे। परन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भरथरी और गोपीचद को स्पष्ट

रूप से राजा कहा गया है उस प्रकार अजैपाल को नही कहा गया, बल्कि 'बाबा अजयपाल, कहा गया है। इसलिए उनका राजा होना निश्चित नही है। मुझे बडथ्वाल जी के मत मे विशेष सार नही दिखता किन्तु इतना निश्चित जान पडता है कि ये चौद-हवी शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। 'वर्णरत्नाकार' की सूची मे इनका नाम न ी है।

५ लक्ष्मण या लक्ष्मणनाथ—बालनाथ, बालगुन्दाई भी इन्ही के नाम जान पडते हैं। अजयपाल की शताब्दी मे एक पद इस प्रकार आता है।

"लषमण कहै हो बाबा अजयपाल तुम कुण आरम्भ पीर"

इनसे अनुमान होता है कि लषमण (लक्षमणनाथ) के ये गुरु थे।

परम्परा से प्रचलित है कि लषमणनाथ का ही नाम बालनाथ या बालापीर था।

नाथ संप्रदाय मे जो आईपथ गोरक्षनाथ की शिष्या विमलादेवी द्वारा प्रवर्तित माना जाता है उसी संप्रदाय मे थे। इनका पूरा नाम बालगोविंद है। आईपथ वाले नाम के साथ आई जोडते हैं। इसलिए इनका नाम बालगोविंददाई पडा जिसका सक्षिप्त रूप बालगुदाई हुआ। सभवत ये तेरहवीं शताब्दी मे वर्तमान थे। और करकाई और भूष्टाई के थोडे परवर्ती थे। बालनाथ, लक्षमणनाथ और बालगुदाई के नाम से पाए जाने वाले कई पद समान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनो नाम एक ही सिद्ध के हैं।

६. हणवन्तजो—इनके बारे मे कुछ निश्चित नही मालूम। लेकिन ये धज संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके दो शिष्य मगरधज और विविकिधज (मकर-ध्वज विवेकध्वज) 'वर्णरत्नाकर' की सिद्ध सूची में मिल जाते है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवी शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। रामभक्त हनुमानजी के साथ इनको अभिन्न मान लिया गया है जो नाम साम्य के कारण उत्पन्न भ्रांति मात्र है। इनके नाम से प्राप्त पदो मे कुछ पद थोडा बदलकर कबीरदास के नाम पर भी चलते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये कबीरदास के पूर्ववर्ती थे।

हणवत की बानियो मे पूर्वी भाषा के लक्षण दिखते हैं। ऐसा जान पडता है कि ये किसी पूर्वी प्रदेश के सिद्ध थे।

७ घोडाचोली—'हठयोग प्रदीपिका' मे जिस सिद्धो के कालदड का खडन करनेवाला बताया गया है उनमे घोडाचोली का भी नाम है। आईपथ के प्रसिद्ध सिद्ध चोलीनाथ ये ही जान पडते हैं। इस प्रकार ये चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनका समय सन् ईस्वी की बार-हवीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। इस संग्रह मे इनकी जो बानियाँ सगृहीत हैं उनमे रावल, पागल, बनखडी, आई पथ, पखि (पक) धूज या धज, गोपाल, इन पथो की चर्चा हैं। इससे जान पड़ता है कि इन पथो के आविर्भाव के बाद ही ये हुए होंगे। अपनी सबदी ये अपने को मछींद्र का दास कहा है।

८. **घूँघली मल और गरीबनाथ**—'मूँहणोत नैणसीरी ख्यात' मे बताया गया है कि ये गरीबदास के गुरु थे। लाखडी से १२ कोस की दूरी पर धीणोद है। वहाँ के अजयसर पर्वत पर घूँघलीमल रहते थे। इन्ही के शिष्य गरीबनाथ थे। उनके आशीर्वाद से भीम कच्छ का राजा हुआ था। इनके शिष्य गरीबनाथ के शाप से घोघो का राज्य नष्ट हुआ था। प्रभासपाटन के एक शिलालेख से जाडेचा भीम का समय सवत् १४४२ (१३८७ ई०) है इसलिए घूँघलीमल और गरीबनाथ का समय भी ईसवी सन् की चौदहवी शती का उत्तरार्ध होना चाहिए।

९ **दत्तजी**—दत्तजी दत्तात्रेय का विकृत रूप है। दत्तात्रेय की सस्कृत रचनाएँ प्रसिद्ध ही हैं। ऐसा जान पडता है कि किसी कम पढे-लिखे साधु ने सस्कृत श्लोको को बुरी तरह बिगाडकर और उनमे अपनी रचना जोडकर चला दिया है। सभवत इन पदो के लेखक पद्रहवी शताब्दी मे हुए थे क्योकि 'रोजी' 'राजा' जैसे शब्द इन रचनाओं मे प्राप्त होते हैं।

१०. **देवलनाथ**—ये गरीबनाथ के पूर्ववर्ती थे। इनके विषय मे विशेष कुछ नही मालूम है।

११ **पृथ्वीनाथ**—ये कबीर के परवर्ती थे क्योकि इनकी रचनाओ मे कबीर का नाम आता है। इस प्रकार ये सोहलवी शताब्दी के आस-पास हुए होंगे।

१२. **परवत सिद्ध**—नाथ योगियो के प्राप्त वाणियो मे नामो की विचित्र तोड-मरोड है। कभी-कभी एक ही नाम को उच्चारण-विकृति के कारण भिन्न-भिन्न मान लिया गया है। ऐसा जान पडता है कि परवत सिद्ध (जो निश्चित रूप से चौदहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं) बाद मे उसी प्रकार 'पार्वती या पारवती' बना दिए गए जिस प्रकार काणेरी पाव 'सती काणेरी' हो गए। इसका एक कारण यह है कि 'परबत' शब्द का तृतीयान्त या सप्तम्यन्त पुराना रूप 'परवति' होता है। बाद मे इस इकार ने इस सिद्ध को स्त्री सिद्ध समझने की भ्रान्ति पैदा की। इस सग्रह मे परबत सिद्ध का एक 'भूगोल पुराण' दिया हुआ है। यह 'पुराण' पजाब के एक सज्जन ने भेजा था। गुरु नानक द्वारा रचित बताई जानेवाली 'प्राण सकली' (तरन तारन से प्रकाशित) मे यह हू-ब-हू इसी रूप मे है। इसीलिये इनके रचयिता के बारे मे सन्देह होता है। परन्तु यह काफी पुरानी भाषा है। इसमे सन्देह नही। इससे खडी बोली का एक पुराना रूप प्राप्त होता है।

१३-१४. **सुकुल हस और सतवती**—के बारे मे कुछ मालूम नही

इस पकार इस संग्रह मे जिन नाथसिद्धो की वाणियाँ सगृहीत हैं उनमें से अधिकाश चौदहवी शताब्दी (ईसवी) के पूर्ववर्ती हैं। कुछ चौदहवी शताब्दी के हैं और बहुत थोडे उसके बाद के। भाषा की दृष्टि से इन पदो का महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि इन वाणियो के रूप बहुत-कुछ विकृत हो गए हैं, परन्तु भाषा का कुछ-न-कुछ पुराना रूप उनमे रह गया है। खडीबोली का तो इन पदो मे बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। खडी बोली के धाराप्रवाहिक प्रयोग का नया स्रोत इन पदों मे पाया जाएगा।

१३

परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय में प्राचीन मत

१. संप्रदाय भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योगि-संप्रदाय नाना पथों मे विभक्त हो गया है। पथो के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है उस पर से यह समझना बडा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक मतभेदो के कारण ये सप्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्षनाथ के सप्रदाय की इस समय जो व्यवस्था उपलभ्य है उस पर से ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न संप्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये। भर्तृहरि उनके शिष्य बताये जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते हैं, गोपीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सबके नाम से संप्रदाय चला है। जालधर नाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे, उनका प्रवर्तित सप्रदाय भी गोरक्षनाथ के सप्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती समसामयिक और ईषत्परवर्ती जितने सिद्ध हुये उन सबके प्रवर्तित संप्रदाय गोरक्षपथ मे शामिल हैं। इसका रहस्य क्या है ?

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वर्तमान नाथपथ मे जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पथो से सम्बद्ध हैं जिनमे आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अट्ठारह संप्रदाय) थे जिन्हे गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जाने वालो मे कुछ शिवजी के सप्रदाय थे और कुछ स्वय गोरक्षनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवितावस्था मे ही ऐसे बहुत से सप्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्ती मानते थे और उन अनधिकारी सप्रदायो का दावा इतना भ्रामक हो गया कि स्वय गोरक्षनाथ ने ही उनमे से बारह या अट्ठारह को तोड दिया! क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल मे ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उपशाखाओ मे विभक्त देखे और उनके मतभेदो को तो दूर न करे बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले ? इस विचित्र आचरण का रहस्य क्या है ?

गोरक्षनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्म साधना

मे बडे उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्धसाधना क्रमश मत्र-तन्त्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवी शताब्दी मे यद्यपि ब्राह्मणधर्म सपूर्णरूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धो, शाक्तो और शैवो का एक बडा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नही मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सप्रदाय उन दिनो वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्नकोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नही स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवो का पाशुपत मत काफ़ी प्रबल था। हुएन्त्साग ने अपने यात्रा-विवरण मे इसका उल्लेख बारह बार किया है। 'वैशेषिक-दर्शन' के टीकाकार प्रशस्तपाद शायद पाशुपत ही थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रंथों में इस मत की चर्चा की है। परन्तु यह मत वेदबाह्य ही माना जाता था। शकराचार्य ने[1] अपने 'शारीरक भाष्य' मे इसका खण्डन किया है। 'लिग पुराण' मे पाशुपत मत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तान्त्रिक लोग तप्त-लिंग और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र पाशुपत समान भाव से पचदेवो की उपासना किया करते थे। 'वामन पुराण' मे शैव, पाशुपत, कालामुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमो को निगम (अर्थात् वेद) के समान, और उनसे भिन्न स्वतत्र प्रमाण रूप मे स्वीकार किया गया है। काश्मीर का शैव-दर्शन इन आगमो से प्रभावित है। वैसे तंत्र-शास्त्र मे निगम का अर्थ वेद माना भी नही जाता। 'आगम' शाक्त तन्त्रो मे उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और 'निगम' वह है जिसे शिव को स्वय देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार ये सप्रदाय स्वय भी वेदो को बहुत महत्त्व नही देते थे और वैदिक मार्ग के बडे-बडे आचार्य भी उन्हे अवैदिक समझते थे। हमने कौल-साधना के ब्राह्मण-विरोधी स्वर का थोडा परिचय पिछले अध्यायो मे पाया है।

क्रमशः ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इसलाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलो के रूप मे विभक्त हो गया तो किनारे पर पडे हुए अनेक सप्रदायों को दोनो मे से किसी एक को चुन लेना पडा। अधिकाश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू-सप्रदाय मे शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सप्रदाय मुसलमान भी हो गए। दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के बाद क्रमशः वेदबाह्य

---

१. सा चेय वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। ...माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोग-विधिदुःखान्ताः पञ्चपदार्थाः पशुपतिनेश्वररेण पशुपाशविमोक्षणोपायदिष्टा पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमितिवर्णयन्ति ...इत्यादि। 'शारीरक भाष्य' २-२-३७।

सम्प्रदायो की यह प्रवृत्ति वढती गई कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवो ने भी ऐसा किया और शाक्तो ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेदविरोधी थे कि उनका सामजस्य किसी प्रकार इन मतो मे नहीं हो सका। वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग मार्ग मे ऐसे अनेक मार्गों का सघटन किया होगा। हमने ऊपर देखा है कि उनके गुरु और गुरुभाई तथा गुरु सतीर्थ कहे जाने वाले लोगो का मत भी उनका सप्रदाय माना जाने लगा है। इस पुस्तक मे हमने जालधरनाथ, मत्स्येंद्रनाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रथो से उद्धरण देकर उनके मतो का साधारण परिचय दिया है। स्पष्ट ही वे लोग वेदो की परवा करने वाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्मसाधना के उस उथल-पुथल के जमाने मे गोरक्षनाथ के नेतृत्व मे सघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विश्वास इतने दूर विभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार योग मार्ग का अग वन ही नही सकते थे, उन्हे स्वीकार नही किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो संप्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही वहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह मे देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्ही सप्रदायो मे मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और वाद मे गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे वहुत से शैव, वौद्ध, और शाक्त-सम्प्रदाय थे जो वेदवाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जव मुसलमानी धर्म प्रथम वार इस देश मे परिचित हुआ तो नाना कारणो से देश दो प्रतिद्वदी, धर्मसाधनामूलक दलो मे विभक्त हो गया। जो शैव-मार्ग और शाक्तमार्ग वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मणप्रधान हिन्दू समाज में मिल गए और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत मे ऐसे अनेक सप्रदाय थे जो वेदवाह्य होकर भी वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव-देवियो की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलो का पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, दूसरे (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमो के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्षसम्मत योग मार्ग के उतने नज़दीक नहीं थे। इनमे से जो लोग गोरक्षसम्मत मार्ग के नज़दीक थे उन्हें उन्होने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, वाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनो ही प्रकार के मार्गों से ऐसे वहुत से सप्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु वाद मे उन्हें गोरखनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जव परम्पराएँ लुप्त हो गईं तो उन पुराने सम्प्रदायो के मूल्य प्रवर्तको को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद-समूह स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसग मे पडितो ने रचा है। इन कथा-कथित शिष्यो के काल के अनुसार वे कभी आठवी शताव्दी के सिद्ध होते हैं, कभी दसवी, कभी ग्यारहवी और कभी-कभी तो पहली दूसरी शताब्दी के भी!!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नही है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओ के भीतर से निकल भी आते हैं। शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सप्रदायो की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है, नहीं तो यह समझ मे नही आता कि क्यो कोई महागुरु अपने जीवितकाल मे ही अनेक सम्प्रदायो का सगठन करेगा? सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति मे ही मतभेद उत्पन्न होते हैं, गुरु के जीवितकाल मे होते भी हैं तो गुरु उन्हे दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी है। 'योगि सप्रदायाविष्कृति' (पृ० ४१६-२०) मे लिखा है कि धवलगिरि से लगभग ८०-६० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा मे, वर्तमान त्रिशूल गगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगो का एक दल एकत्रित होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढे। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी का यश चारो ओर फैल रहा है, यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हमे अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर ले तो हम लोगो का मत लोकमान्य हो जाय। उन्होने इसी उद्देश्य से उन्हे बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षनाथ जी ने कहा कि "आप यथार्थ रीति से प्रकट कर दे कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं या प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं। यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगडो को छोड कर केवल योगक्रियाओ से ही सम्बन्ध जोड ले। इसके अतिरिक्त यदि (अ ाने पहले से ही) गृहीत मत को पुष्टि करना चाहते हैं तो हम (यह) नही सह सकते कि साधुओ का कार्य जहाँ मुमुक्षुजनो को सन्मार्ग पर चढा देना है वहाँ वे उन विचारो को कुत्सित पथ मे प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ।" वाममार्गियो ने—जिन्हे लेखक ने यहाँ 'कपाली' लिखा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने सम्प्रदाय को अपने मार्ग मे स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का भी उदाहरण पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये थे तो वहाँ काली जी से उनकी मुठभेड हो गई थी। काली जी को ही हारना पडा था और उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के योगमार्ग मे शामिल हो गये। तभी से गोरक्ष-सप्रदाय मे काली पूजा प्रचलित हुई। इन दिनो सारे भारतवर्ष मे नाथ-पथी लोगो मे काली की पूजा प्रचलित है। यह कथा 'योगि सप्रदाया विष्कृति' (पृ० १६४-१६६) मे दी हुई है परन्तु लेखक की सुधारक मनोवृत्ति ने इतना जोड दिया है कि काली ने योगियो से मासादि की बलि नही लेने की प्रतिज्ञा की थी। लेखक को इस बात का बडा खेद है कि आजकल "जिह्वास्वादन के वशीभूत योगिवेशधारी ठगिया और प्रपची लोग" उस नियम का उल्लघन कर रहे हैं! इस विषय की अधिक चर्चा करने के पहले एक बार आधुनिक पथो और पुराने पथो के सम्बन्ध पर विचार लिया जाय। सक्षेप मे देखा जाय कि किस प्रकार मुख्य पथो का सम्बन्ध शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने सप्रदायो के साथ स्थापित किया जाता है। नीचे का व्यौरा उसी सम्बन्ध को बताने

के लिये दिया जा रहा है। इसे तैयार करने मे मुख्य रूप मे ब्रिग्स साहब की पुस्तक का सहारा लिया गया है, परन्तु अन्य मूलो से प्राप्त जानकारियो को भी स्थान दिया गया है।

(१) शिव के द्वारा प्रवर्तित प्रथम सम्प्रदाय भुज के कण्ठरनाथी लोगो का है। कण्ठरनाथ के साथ अन्य किसी शाखा का सम्बन्ध नही खोजा जा सका है।

(२) और (३) शिव द्वारा प्रवर्तित पागलनाथ और रावल सम्प्रदाय परस्पर बहुत मिश्रित हो गये हैं। ध्यान देने की बात है कि गोरखपुर मे सुनी हुई परम्परा के अनुसार पागलनाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक पूरनभगत या चौरंगीनाथ हैं। ये राजा रसालू के वैमात्रेय भाई माने जाते हैं। ज्वालामुखी के माननाथ राजा रसालू के अनुयायी बताये जाते हैं, इसलिए कभी कभी माननाथ और उनके अनुवर्ती अर्जुन नागा या अरजननगा को भी पागलपंथी मान लिया जाता है, वस्तुत· अरजननगा नागार्जुन का नामान्तर है। फिर अफगानिस्तान के रावल--जो मुसलमान योगी हैं--दो सम्प्रदायो को अपने मत का मानते हैं—(१) माविया और (२) गल। गल को ही पागलपंथी कहते हैं। इस प्रकार इन दोनो शाखाओ से पागलपंथ का सम्बन्ध स्थापित होता है। इन लोगो को रावल गल्ला भी कहते हैं। इनका मुख्य स्थान रावलपिंडी मे है—जो एक परम्परा के अनुसार पूरनभगत और राजा रसालू के प्रतापी पिता गज की पुरानी राजधानी थी। गजनी के पुराने शासक भी ये ही थे और गजनी नाम भी इनके नाम पर ही पडा था। गजनी का पुराना हिन्दू नाम 'गजवनी' था। बाद मे गज ने स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया था। रावलो का स्थान पेशावर रोहतक और सुदूर अफगानिस्तान तक मे है।

(४) पख या पक से निम्नलिखित सम्प्रदाय संबद्ध माने जा सकते हैं—

(i) सतनाथ या सत्यानाथी—जिनकी प्रधान गद्दी पुरी में और जिनके अन्य स्थान मेवा थानेश्वर और करनाल मे हैं। ये ब्रह्मा के अनुवर्ती कहे जाते हैं।

(ii) धर्मनाथ—जो कोई राजा थे और बाद मे योगी हो गये थे।

(iii) गरीबनाथ—जो धर्मनाथ के साथ ही कच्छ गये थे।

(iv) हाडीभरग[1] (?)

---

१. पागलबाबा के कथनानुसार मैंने इन्हें सतनाथ से सम्बद्ध समझा है। परन्तु ब्रिग्स ने रसेल और हीरालाल (ट्रा० का० से० प्रो०) के आधार पर इनका सम्बन्ध किसी सन्तनाथ से बताया है। मैं यह ठीक नही कर सका कि सतनाथ और सतनाथ एक ही हैं या भिन्न भिन्न।

(५) शिव के पाँचवे सप्रदाय मारवाड के 'वन' से किसी शाखा का कोई सम्बन्ध नही मालूम हो सका।

(६) गोपाल या राम के—

(i) सन्तोषनाथ—ये ही सम्भवतः इसके मूल प्रवर्तक हो। 'कौलावली निर्णय' और 'श्यामा रहस्य' के मानव गुरुओ मे मत्येद्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है।[१]

(ii) जोधपुर मे दासगोपालनाथियो का सम्बन्ध बताया जाता है।

(७) चाँदनाथ कपिलानी—

(i) गगानाथ

(ii) कायानाथ—(परन्तु, आगे देखिये)

(iii) कपिलानी—अजयपाल द्वारा प्रवर्तित।

(iv) नीमनाथ }
(v) पारसनाथ } दोनो जैन हैं।

(८) हेठनाथ—

(i) लक्ष्मणनाथ। कहते हैं, ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे। (योग प्रवाह पृ० १८६) इसकी दो शाखाएँ हैं—

(ii) दरियापंथ हरद्वार के चन्द्रनाथ योगी ने[२] इनको नाटेश्वरी (नाटेसरी) सम्प्रदाय का माना है और अलग स्वतन्त्र पथ होने मे सन्देह उपस्थित किया है। परन्तु टिला मे उद्भूत स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है। दरिया-पथी साधु क्वेटा और अफगानिस्तान तक मे हैं।

(iii) नाटेसरी—अबाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जाति वाले इसी शाखा के हैं।[३]

कुछ लोग कहते हैं, राँझा इसी सप्रदाय मे थे। डा० बड़थ्वाल के मत से बालानाथ बालयती थे इसलिए उन्हे ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं। पजाब मे बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है।

(iv) जाफर पीर—अपने को ये लोग राँझा और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या सबद्ध) मानते हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध नाटेसरी सम्प्रदाय से जोडा भी जा सकता है। कभी-कभी इनका सम्बन्ध सतोषनाथ से भी जोडा जाता है।'[४] ये लोग मुसलमान हैं।

---

१. कौलावली तंत्र, पृ० ७६।
२. यो० स० आ : पृ० ४६१।
३ ब्रिग्स : पृ० ६४-६५।
४. वही, पृ० ७२।

(९) आई पथ के चोलीनाथ—'हठयोग प्रदीपिका' के घोडाचूली सिद्ध से इस सम्प्रदाय का सबध होना संभव है। घोडाचूली परम्परा के अनुसार गोरखनाथ के गुरुभाई थे। इनकी कुछ हिन्दी रचनाएँ भी मिली हैं (यो० प्र०, पृ० ६८-७०)।

(i) आई पथ का सम्बन्ध करकाई और भूष्टाई[1] दोनो से बताया जाता है। पागलबाबा के मत से करकाई ने ही आई पथ का प्रवर्तन किया था। ये दोनो गोरक्षनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपथी अपने को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते हैं।[2] आई देवी (=माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपथी कहलाये। ये लोग गोरक्षनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्तिका मानते हैं। पहले ये लोग अपने नाम के आगे आई जोडा करते थे, नाथ नही। पर नरमाई के शिष्य मस्तनाथ जी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोडने लगे।

(ii) मस्तनाथ—ये लोग 'बाबा' कहे जाते हैं। गलती से कभी 'बाबा' अलग सप्रदाय मान लिया जाता है।[3]

(iii) माई पथ (?)

(iv) बड़ी दरगाह } (v) छोटी दरगाह } दोनो ही मस्तनाथ के शिष्य हैं। बडीवाले मांस-मदिरा नही सेवन करते छोटी वाले करते हैं।

(१०) वैराग पथ, रतननाथ

(i) वैराग पथ—भरथरी या भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित।

(ii) माई नाथ (?)—एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवो द्वारा पाले पोसे गए थे—भरथरी के अनुयायी थे।

(iii) प्रेमनाथ

(iv) रतननाथ—भर्तृहरि के शिष्य पेशावर के रतननाथ जो बाह्य मुद्रा नहीं धारण करते थे। कभी टोके जाने पर छाती खोल के मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्धि है। दरियानाथ से भी इनका सम्बन्ध बताया जाता है। मुसलमान योगियो में इनका बडा नाम है। इनके नाम से सबद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद में भी हैं।

---

१. आई पथ वाले पहले अपने नाम के आगे आई जोडते थे, इसलिए ये लोग आई के अनुयायी ही होंगे, प्रवर्तक नहीं।

२. ब्रिग्स : पृ० ६५।

३. यो० स० आ० : पृ० ४६२।

(v) **कायानाथ या कायमुद्दीन**—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ, बालक कायानाथ बाद मे चल कर सिद्ध और सप्रदायप्रवर्तक हुआ।

(११) जैपुर के पावनाथ—

(i) जालधरिपा

(ii) पा-पथ (?)

(iii) कानिपा—गोपीचद इसी शाखा के सिद्ध हैं। गोपीचद का ही नाम सिद्ध सगरी है। सँपेरे इनको अपना गुरु मानते हैं।[1]

(iv) बामारग (?)

(१२) धजनाथ—

(i) धजनाथ—महावीर हनुमान के अनुयायी बताये जाते हैं। प्रसिद्धि है कि सिंहल मे जब मत्स्येन्द्रनाथ भोगरत थे उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गए थे। उनसे हनुमान की लडाई हुई थी।[2] बाद में हनुमान को उनका प्रभाव मानना पडा था। चौदहवी शताब्दी के एक नाथ सिद्धो की सूची मे 'धज' नामधारी दो सिद्धो का उल्लेख है।[3] विविकिधज और मगरधज। प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान के पुत्र थे। सभवतः विविकिधज और मगरधज इस पथ से सबद्ध हो। कहते हैं इनका स्थान सिंहल या सीलोन मे है। परन्तु यह भूल है। आगे देखिए। डा० बडथ्वाल ने लिखा है कि हनुमन्त वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामान्तर है।[4]

ऊपर इन योगियो के मुख्य-मुख्य स्थानो का उल्लेख किया गया है। वस्तुत सारे भारतवर्ष मे इनके मठ और अखाडे हैं। अगना (उदयपुर), आदिनाथ (बगाल), काद्रिमठ (मद्रास), गभीरमठ (पूना), गरीबनाथ का टिला (सारमौर स्टेट), गोरक्ष-क्षेत्र (गिरनार), गोरखबशी (दमदम, बगाल), चद्रनाथ (बगाल), चचुल-गिरिमठ (मद्रास प्रान्त), त्र्यम्बक मठ (नासिक), नीलकंठ महादेव (आगरा), नोहरमठ (बीकानेर), पचमुखीमहादेव (आगरा), पाण्डुधुनी (बबई), पीर सोहर (जम्मू),

---

१ प्रसिद्धि है कि जब जालधरनाथ को कानपा कुएँ से नहीं निकाल सके तो गोरक्षनाथ ने उनकी सहायता की। गुरु के उद्धार-महोत्सव मे लोगो को मनोवाछित भोग दिया गया। किसी नवीन भक्त ने नाथ का प्रभाव देखने की गरज से मन ही मन सर्प की कामना की और पत्तल मे सर्प आ गया। उसी अभिशप्त शिष्य के अनुयायी सँपेरे हुए जो कानबेलिया कहे जाते हैं। किसी-किसी ने इन्हें अलग सप्रदाय कहा है (तुल०-यो० सं० आ० पृ० ३३७-८)।

२. यो० स० आ० : पृ० १६३..

३ बौ० गा० दो० : पृ० ३६।

४ योगप्रवाह : पृ० १८६।
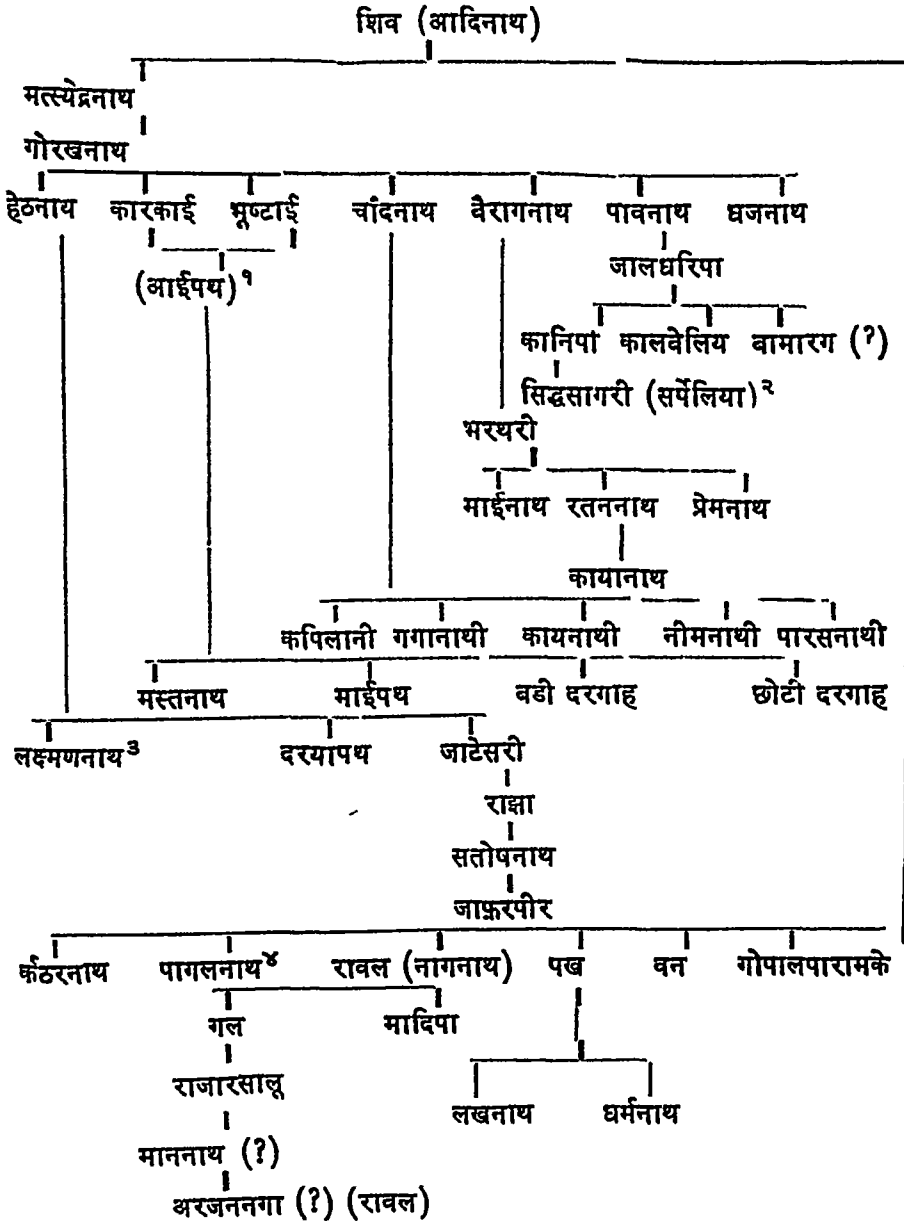
१ कोई-कोई केवल कारकाई सप्रदाय से ही आईपथ की उत्पत्ति मानते हैं।

२ कालवेलिय किसी-किसी के मत से अलग-अलग सप्रदाय नहीं है। विडवामरी ही कानबेलिय कहलाते हैं।

३ कालान्तर मे लक्ष्मणनाथ से ही दरियानाथ और नाटेसरी की उत्पत्ति है।

४. किसी परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण पागलनाथजी शाखा रावलो की छयशाखा है।

बत्तीस रसाला (सतारा), भर्तृगुफा (ग्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मगलेश्वर (आगरा), महानादमदिर (बर्दवान, बगाल), महामदिरमठ (जोधपुर), योगि गुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुडा, बगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), लाढुवास (उदयपुर) हाडीभरगनाथ का मदिर (मैसूर), हिंगुआमठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं जो समूचे भारतवर्ष मे विस्तृत हैं।[1] यह नही समझना चाहिए कि जिस पथ का जो मुख्य स्थान है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिये आदरणीय नही है। वस्तुत सभी पथ सब स्थानो का सम्मान करते हैं। ऊपर के विवरण से चार्ट पृष्ठ १६६ द्वारा पथों का प्रसार जाना जाता है :

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्तित सप्रदायो मे कई नाम परिचित और पुराने हैं। कपिलानी अपना सबध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका मुख्य-स्थान गगासागर मे है, जहाँ कपिलमुनि का आश्रम था। कपिलमुनि 'साख्यशास्त्र' के प्रवर्तक माने जाते हैं। साख्य और योग का घनिष्ठ सबध हमने पहले ही लक्ष्य किया है। 'भागवत' मे कपिलमुनि योग और वैराग्य के उपदेष्टा के रूप मे प्रसिद्ध हैं। 'साख्यशास्त्र' को निरीश्वर योग कहते हैं। और 'योगदर्शन' को सेश्वर साख्य। ऐसा जान पडता है कि कपिलमुनि के अनुयायी जो निरीश्वरवादी योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग मे बाद मे आ मिले थे। चाँदनाथ सभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्ष-मार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पडते हैं। जैनसाधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे। उनका यह सप्रदाय गोरक्षनाथ योगियो मे अन्तर्भुक्त हुआ है। कहना व्यर्थ हैं कि जैन-मत वेद और ब्राह्मण को प्रधानता नही मानता। भरथरी के वैरागपथ पर आगे विचार किया जा रहा है। पावनाथ के जालधरपाद सभवत वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं वे सभी वज्रयान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद की साधना का परिचय तो हमे मिल ही चुका है। कृष्णपाद ने स्वय अपने को कापालिक कहा है, परन्तु कापालिक का अर्थ सब समय शैवकापालिक ही नही होता। जो हो, इसमें तो कोई संदेह नही कि जालधरपाद का पूरा का पूरा सप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था। धजनाथ के विषय मे आगे विचार किया जा रहा है। वे ही सभी पथ भिन्न-भिन्न धर्म साधनाओ से सबद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

आईपथ वाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ न जोड कर आई जोडा करते थे। करकाई और भूष्टाई का वस्तुतः नाथपथी नाम कर्कनाथ और भृष्टनाथ (शम्भुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि वे किसी शाक्तमत से गोरक्षनाथ के योग-मार्ग मे अन्तर्भुक्त हुए होगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्या बताई जाती है परन्तु

---

१ श्री अक्षयकुमार वद्योपाध्याय : गभीरनाथ प्रसग, पृ० ५१-५३।

नित्याह्निकतिलक मे एक महाप्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मत्स्येंद्र नाथ की मतानुवर्तिनी रही होगी। उन्होने गोरक्षनाथ से दीक्षा भी ली हो तो आश्चर्य नहीं। हस्तिनापुर मे कोई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिवगण। उनकी पुत्री का नाम विनदेवी था। गुप्तनाम श्री गुप्तदेवी था। एक बार भेरी के शब्द से इन्होने बौद्धो को वित्रासित किया। तब से इनकी कीर्ति का नाम बौद्धत्रासिनी (बोधत्रासनी) माता पड गया। जब उनका जन्म हुआ तो स्त्रीरूप मे उत्पन्न हुई थी पर अधिकार-काल मे पुरुष-मुद्रा मे दिखी और वलपूर्वक अधिकार दखल किया। परन्तु पशु लोग (पाखडी) उन्हें स्त्रीरूप में ही देखते थे। इनके दस नाम हैं—

विमला च शिखा चैव विदेषी (च) सुशोभना।
नागकन्या कुमारी बधारणी पयोधारणी
रक्षाभद्रा समाख्याता देव्या नामानि वै दश।
नामान्येतानि यो वेत्ति सोऽपि कौलाह्वो (?) भवेत् ॥'[1]

यह कह सकना कठिन है कि यही विमलादेबी आईपथ की पूजनीया विमला देवी हैं या नही। मैंने अनुसधित्सु पाठको का ध्यान आकर्षण करने के लिए इस बात को यहाँ लिख दिया।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले पथो को पुराने साख्ययोग-वादी, बौद्ध जैन, शाक्त सभी हैं। सब की एकमात्र सामान्यधर्मिता योग मार्ग है।

शिव के द्वारा प्रवर्तित सप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होना चाहिए। इन्हें स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जब अपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। मेरा अनुमान है कि ये लोग मन्त्र-तन्त्र को करते होगे पर हठ-योग सिद्धियो से कोई सम्बन्ध नही रखते होगे। यह लक्ष्य करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले सम्प्रदायो का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पजाब, पेशावर और अफगानिस्तान मे है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था मे इससे कुछ अधिक कहना सभव नही है।

इस प्रकाश मे कुछ उलझी हुई समस्याओ का विचार किया जाय।

२. रावल-शाखा

१. रावलसप्रदाय योगियों की वडी भारी शाखा है। कभी-कभी कहा गया है कि यह रावल शब्द सस्कृत के 'राजकुल' शब्द का अपभ्र श है। प्राचीनकाल के तीन राजवशो ने यह विरुद धारण किया था—(१) मेवाड के राजकुल ने[2] (२)

---

१. कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० ७०-७१।

२ रावलाख्यां पदवी दधानो वाप्पाभिधानः सरराज राजा।
—राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३।

आबू के परमारो ने[१] और (३) जालोर के चौहानो ने[२]। और किसी राजघराने ने यह विरुद धारण किया था या नही यह नही मालूम हो सका है। परन्तु रावल शब्द से सबसे अधिक प्रसिद्धि चित्तौड के बाप्पा रावल ही को मिली थी। इस पर से यह अनुमान होता है कि रावलपथ का किसी राजकुल से सबध रहा होगा। यह ध्यान देने की बात है कि केवल बाप्पा के साथ यह शब्द अपने अपभ्र श रूप मे चलता है, अन्यान्य लेखो मे सस्कृत 'राजकुल' शब्द का ही व्यवहार है। बाप्पा से गुरु-गोरक्षनाथ के मिलन की प्रसिद्धि कई विद्वानो ने लिखी है। इस प्रसिद्धि के आधार पर गोरक्षनाथ का समय निर्णय करने का प्रयास भी किया गया है।

महामहोपाध्याय प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताने के इतिहास' मे बाप्पा का समय सन् ईसवी की आठवी शताब्दी का पूर्वभाग निश्चित किया है। महाराणा कुभा के समय जो 'एकलिंगमाहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गई, उसमे लिखा है कि पुराने कवियो ने कहा है कि सवत् ८१० वि० (ई० सन् ७५३) मे एकलिंग का वर पाया हुआ प्रथम राजा बाप्पा हुआ।[३] ओझा जी ने इस वर्ष को बाप्पा के राज्य-त्याग का सवत् सिद्ध किया है। बाप्पा इसके पूर्व ही सिंहासनासीन हो गये थे।[४] परन्तु बाप्पा सम्बन्धी प्रसिद्धियो के प्रसग मे ओझा जी ने गोरक्षनाथ वाली प्रसिद्धि की कोई चर्चा नहीं की है। बाप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध में जितनी प्रसिद्धियाँ हैं, उनमे बाप्पा के गुरु का नाम हारीतऋषि या हारीत राशि बताया गया है, जो लकुलीश पाशुपत सप्रदाय के कोई सिद्ध पुरुष थे। फ्लीट ने सन् १९०७ मे एक प्रबन्ध लिखा था जिसमे एकलिंगजी के मन्दिर को लकुलीश संप्रदाय का सिद्ध किया था।[५] एकलिंग मन्दिर मे एक लेख पाया गया है जो सन् ९७१ ई० का लिखा है। इस लेख से इस मन्दिर की स्थिति बहुत पुरानी सिद्ध हो जाती है और ऐसा माना जा सकता है कि बाप्पा ने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई होगी। इधर बाप्पा का एक सोने का सिक्का भी अजमेर से मिला है जो घिस जाने पर तौल मे ६६ रत्ती के करीब

---

१. एवमिथ व्यवस्था श्री चद्रागतीपति राजकुल श्रीसोमसिंह देवेन
—आबू पर देलवाडा के मन्दिर का प्रशस्ति-लेख।

२ महाराजकुल श्रीसामन्तसिंह देव कल्याण विजयराज्ये इत्यादि।
—सांचोर का शिलालेख

३. उक्त च पुरातनैः कविभि·
आकाशचन्द्र दिग्गजसख्ये सवत्सरे बभूवाछ·।
श्रीएकलिंगशकरलब्धवरी बाप्पभूपालः॥

४. राजपूताने का इतिहास : पृ० ४१२।

५ कर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसायटी. १९०७ : पृ० ४२०।

है। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है।[1] उससे यह निश्चित रूप मे सिद्ध हो जाता है कि वाप्पा रावल वस्तुत ही लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। इसके सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री वोप्प' लिखा हुआ है (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरों की वेदी पर एक-एक शिवलिंग है जो वाप्पा के इष्टदेव एकलिंगजी का सूचक है, (४) इसकी दाहिनी ओर नदी है और (५) लिंग तथा नदी के नीचे प्रणाम करते हुए वाप्पा का अधलेटा अग है। पीछे की तरफ भी एक गौ खडी है 'जो वाप्पा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश सम्प्रदाय के कनफटे साधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगी जिसकी सेवा वाप्पा ने की थी, ऐसी कथा प्रसिद्ध है।"[2] इस सिक्के के चिह्न सूचित करते हैं कि वाप्पा लकुलीश[3] पाशुपत-सम्प्रदाय के शिष्य थे। वाप्पा का सिक्का और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनो ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि लकुलीश सप्रदाय के बडे भक्त थे। प्राय भिन्न-भिन्न सप्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ संप्रदाय वाचक शब्द जोडा करते थे। बुद्ध के उपासक अपने को परम सौगत, विष्णु के उपासक परम भागवत और शिव के उपासक परम माहेश्वर जोडा करते थे। क्या रावल या महारावल शब्द भी सम्प्रदायवाचक है ?

'आथर्वशिर उपनिषद्' मे पाशुपतो के विशिष्ट पारिभाषित शब्दो के पाये जाने से पडितो ने अनुमान किया है कि अवान्तर उपनिषत्काल मे इस सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था।[4] इस सप्रदाय के ऐतिहासिक सस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। इनका जन्म बडौदा राज्य के कायावरोहण (कायारोहण, कारवान्, बडौदा

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग १, पृ० २४१-८५ मे म० म० प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा का लेख।

२. राजपूताने का इतिहास : पृ० ४१५-४१६।

३ 'इस समय उस संप्रदाय का माननेवाला कोई नही रहा, यहाँ तक कि लोग बहुधा उस सप्रदाय का नाम भी भूल गये हैं, परन्तु प्राचीन काल मे उसके अनुयायी बहुत थे जिनमें मुख्य साधु (कनफडे, नाथ) होते थे। उस सप्रदाय का विशेष वृत्तान्त शिलालेखो तथा 'विष्णु पुराण', 'लिंग पुराण' आदि मे मिलता है। लकुलीश उस सप्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिए। उनके मुख्य चार शिष्यो के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य मिलते हैं। एकलिंगजी के पुजारी कुशिक की परम्परा मे से हारीतराशि वाप्पा का गुरु माना जाता है। इस सम्प्रदाय के साधु निहग होते थे, गृहस्थ नही और मूंडकर चेला बनाते थे। उनमे जाति-पाँति का कोई भेद न था।"—राजपूताने का इतिहास (पृ० ४१६) मे ओझा जी की टिप्पणी।

४ प० बलदेव उपाध्याय : विश्वभारती पत्रिका खण्ड १, पृ० २४५।

राज्य) मे हुआ था ऐसा कहा जाता है ।[1] 'शिवपुराण' मे कारवण महात्म्य है जो लकुलीश के जन्म ग्राम की महिमा बताने के लिए लिखा गया है । लकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि मे पाई गई है । इन मूर्तियो की बाह्य वेशभूषा भी उन्हे अन्य मूर्तियो से स्पष्ट रूप से विशिष्ट बना देती है । माथे पर बना केशकलाप, एक हाथ मे बीजपूरक या फूल और दूसरे मे लगुड (लाठी) इन मूर्तियों की विशेषता है । लगुनी अर्थात् लकुटि धारण करने के कारण ही लकुलीश की लकुलीशता है ।[2] मथुरा मे उपलब्ध शैवस्तभ तथा उस पर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश का समय विक्रम के दो सौ वर्ष बाद ठहरता है । यह वही युग है जिसमे कुषाणवशीय नरेश हुविष्क को सुवर्ण मुद्राओ पर लकुटधारी शिव की मूर्तियां मिलती हैं ।[3]

लकुलि, लगुलि (=लाठी ?) आदि शब्दो का रूप ही सूचित करता है कि वे देशी शब्दो के सस्कृत रूप हैं । लकुलीश पाशुपतमत प्रधानतया निचले स्तर के लोगो मे बहुत प्रचलित था । वैदिक और भागवत लोग शुरू-शुरू मे इस मत को सिर्फ अवैदिक ही नही मानते थे, इसके मानने वालो को पापयोनि मे उत्पन्न भी मानते थे । 'भागवत' मे एक स्थान पर इनको सच्छास्त्र परिपथी कहा गया है और पापव्रतियो को इस दीक्षा मे प्रवेश करने का अभिशाप दिया गया है ।[4] रावल वस्तुतः इसी 'लाकुल' शब्द का रूपान्तर है । सातवी शताब्दी के पहले ये लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे क्योकि इनमे कुछ असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा हो गये थे । आठवी शताब्दी मे बाप्पा ने जब रावल उपाधि धारण की तो वस्तुत उन्होंने अपने को अपने विशिष्ट सप्रदाय का अनन्य भक्त सिद्ध करना चाहा था । इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि गोरक्षनाथ के सप्रदाय मे रावल या लाकुल पाशुपत मिल गये थे । भाण्डारकर ने लिखा है कि सन् ६४३ से आरभ करके सन् १२८५ ई० तक की प्रशस्तियो मे शैव मात्र को लकुलीश कहा गया है ।[5] सन् १२८७ का एक लेख सोमनाथ मे प्राप्त हुआ है जिसमे गोरक्षनाथ का नाम

---

१ म० म० प० गौ० ही० ओझा : राजपूताने का इतिहास, पृ० ४१० ।

२ विश्वभारती पत्रिका : खण्ड १, पृ० २४५ ।

३. वही : पृ० २७६ ।

४ भवव्रतधरा ये च ये च तादन् समनुव्रता
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपथित.
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्माख्यिवारिण
विशन्तु शिवदीक्षाया यत्र दैव सुरातवम् ॥ —भागवत, ४।२।

५ रायल एसियाटिक सोसायटी की बबई शाखा के जर्नल (जिल्द २२, पृ० १५१ और आगे) मे डाक्टर डी० आर० भाण्डारकर ने लिखा है राजपूताने के अनेक मन्दिरो मे उन्होने लकुटधारी शिवमूर्तियाँ देखी हैं । ये सभी द्विभुज मूर्तियाँ और उनके एक हाथ मे लकुट है । इन द्विभुज मूर्तियो को देखकर भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि ये मूर्तियाँ किसी ऐसे सिद्ध की स्मारिका हैं जो बाद मे चलकर शिव का अवतार मान लिए गए थे । लकुलीश यही सिद्ध थे ।

लकुलीश के साथ लिखा गया है।[1] यह भी लक्ष्य करने की बात है कि धर्मनाथ के विषय मे एक अनुश्रुति इस प्रकार की है कि वे पेशावर से धिनोधर आए थे और चारणदेवी नामक विधवा के हाथ मे से पुनर्वार पैदा हुए थे और इस पुनरुद्भूत सिद्ध का नाम 'रावल पीर' पडा था। 'रावल पीर' शब्द ही 'लाकुल गुरु' की याद दिलाता है। इस पर से मेरा अनुमान है कि रावल नाम से प्रसिद्ध योगियो की समूची शाखा वस्तुत लकुलीश पाशुपत सप्रदाय की उत्तराधिकारी है। इन लोगो मे जाति-पांति का बधन पहले भी नही था इसलिये वे लोग क्रमश मुसलमान होते गए। शुरू-शुरू मे जब गोरक्षनाथ ने शैव और योगमूलक संप्रदायों का सगठन किया होगा तो इन्हे सप्रदाय मे इसलिये स्वीकार किया होगा कि उन दिनो ये शास्त्रज्ञ सप्रदाय की प्रतिष्ठा पा गए थे। इनमें योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त मात्रा मे थी। गोरक्षनाथ के पथ मे आने के बाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगों के संप्रदाय मे गोरक्षनाथ लकुलीश के अवतार मान लिये गए होंगे और बाप्पा रावल के साथ गोरक्षनाथ के सबध की कहानी चल पडी होगी।[2]

इस प्रसग में एक उल्लेख योग्य तथ्य की चर्चा करना असगत नही है। सोमनाथ में उपलब्ध चित्रप्रशस्ति मे दाता का नाम उलूकराज लिखा हुआ है। भाण्डारकर ने लिखा है कि शिव के दो अवतारो के नाम उलूक थे और इस प्रशस्ति के उलूक वैसे ही किसी शैव सप्रदाय के उपासक होंगे। परन्तु फ्लीट ने 'वायुपुराण' या 'लिग पुराण' मे कोई ऐसा प्रमाण नही पाया।

अब भी, उलूक कौन थे इस विषय मे पडितो ने तरह-तरह के अनुमान किए हैं। 'महाभारत' (सभापर्व २७. ५) मे लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश जय करने गए थे 'उलूक' नाम की एक जाति से उनका सामना हुआ था। ये लोग संभवतः 'उल्लू' टोटेमवाली जाति के थे। अब लक्ष्य करने की बात है कि सस्कृत मे उलूक का पर्याय 'कौशिक' भी है। क्यो कौशिक शब्द उलूक का वाचक हो गया इसका कोई सगत कारण अभी तक नही बताया जा सका है। परन्तु उलूक लाकुलीश सप्रदाय के शैव थे। लकुलीश के साक्षात् शिष्य का नाम 'कुशिक' था। 'उलूक' जाति के लोग इन्ही कुशिक की परपरा मे पडने के कारण 'कौशिक' कहे जाते होंगे। पुरानी परपरा

---

१ ब्रिग्स : पृ० २४०।

२. इस विषय मे अनुसधित्सु पाठको की जानकारी के लिये एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। रावल अपने को नागनाथ का अनुयायी कहते हैं। लकुलीश की मूर्तियो को अभी तक इतना महत्त्वपूर्ण नही समझा गया है कि उनके चित्र प्रकाशित हो, इसलिये उन मूर्तियो की विशेषता के विषय मे कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु डा० बर्गीज ने एलोरा (वेरूल) की गुफाओ मे एक शिव के योगी चित्र का अकन प्रकाशित किया है। उसमे शिव बाएँ हाथ मे लाठी लिए हुए पद्म पर समासीन हैं और पद्म नागो के फण पर हैं। फ्लीट ने इसको लकुलीश मूर्ति माना है। इससे रावलो के नागनाथी होने पर कुछ प्रकाश पड सकता है।

के भूल जाने पर 'कौशिक' शब्द उलूक पक्षी का पर्याय समझ लिया गया है। इस व्याख्या से 'उलूक' जाति सबधी वाद का एक युक्तिसगत निर्णय हो जाता है। शकुनि के एक भाई का नाम भी 'उलूक' था। इस पर से फ्लीट ने अनुमान किया है कि 'उलूक' जाति या तो उसका वशज है या फिर 'उलूक' कोई जाति ही है। शकुनि गाधार के राजा थे इसलिये उलूको का स्थान उधर ही हो सकता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावलो के प्रधान पीठ अब भी अफगानिस्तान मे ही अधिक हैं।

'सर्वदर्शन सग्रह' मे कणाद-दर्शन को ही औलूक्य दर्शन कहा गया है। इस नमा के कारण टीकाकार ने दो बताए हैं। एक तो यह कि कणाद उलूक ऋषि के वशज थे। दूसरा यह कि शिवजी ने उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि को छ॰ पदार्थों के ज्ञान का उपदेश दिया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन प्रसिद्ध है। 'सर्वदर्शन संग्रह' मे किसी प्राचीन ग्रथ का एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि किस दृढता से ये लोग शिव के साक्षात्कार को मुक्ति (दु.ख निवृत्ति) का उपाय मानते थे। जिस दिन आदमी आसमान को इस प्रकार ढक लेंगे जिस प्रकार चमडे से कोई बर्तन ढका जाता है उसी दिन वे शिव को जाने बिना भी दु.ख का अन्त पा जायेंगे।[१] अर्थात् शिव को जाने बिना परमसुख का मिलना असभव है। आगमो को पढकर महेश्वर के गुण को सुनना, सुने हुए को अनुमान से ठीक-ठीक समझना और समझे हुए को ध्यानाभ्यास से मन मे बार-बार अनुभव करना—तीन प्रकार से अपनी बुद्धि को शिव मे लगाने से उत्तम योग प्राप्त होता है।[२] औलुक्य लोगो का यही विश्वास है।

३. पूरन भगत और राजा रसालू

पूरन भगत (चौरगीनाथ) और राजा रसालू—सारे पजाब मे और सुदूर अफगानिस्तान तक मे पूरन भगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये दोनो ही सियालकोट के राजा सालवाहन (शालिवाहन) के पुत्र बताए जाते हैं। कहते हैं, पूरन भगत अन्त मे बहुत बडे योगी हो गए थे और चौरगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। मियाँ कादरयार की लिखी हुए एक पजाबी कहानी पर 'संगपूरन भगत' गुरुमुखी अक्षरो मे छपी है। कहानी का साराश इस प्रकार है।

पूरनभगत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वशज थे। उनके बापदादो ने सियालकोट के थाने पर अधिकार कर लिया था। इनके पिता का नाम सलवान (सालवाहन-शालिवाहन) था। जन्म के बाद ज्योतिषी के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त मे रखे गए थे। इस बीच राजा ने लूण नामक एक चमार की युवती से शादी कर ली। एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ बाप से मिले। उन्होंने सहजभाव से

१. यदाचर्मवदाकाश वेष्टयिष्यंति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दु.खस्यान्तो भविष्यति ॥—स॰ द॰ स॰, पृ॰ २१

२. आगमेनानूमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम ॥—वही पृ॰ २१।

विमाता को 'माँ' कहकर पुकारा, इस पर गर्विणी नई रानी का यौवनभाव आहत हुआ। उसने कई अपप्रस्ताव किए। अन्त मे पूरनभगत के सरल स्वभाव से उसकी उद्दामता अत्यन्त प्रबल हो उठी। ईर्ष्या से अन्धी होकर इस रानी ने राजा से उलटी-सीधी लगाकर पूरन के हाथ पैर कटवा कर और आँखें फुटवाकर कुएँ मे डलवा दिया। इस कुएँ से गुरु गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। गुरु के आशीर्वाद से उनके हाथ पैर और आँखें फिर से मिलीं। जब वे नगर लौटकर गए और उनके पिता को इस छल का पता लगा तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा पर पूरन ने निषेध किया। पूरन की माँ रो-रोकर अन्धी हो गई थी। पूरन की कृपा से उन्हें आँखें मिलीं और उन्हीं के वर-दान से पुत्र भी हुआ। पिता ने आग्रहपूर्वक उन्हें राजसिंहासन देना चाहा पर पूरन ने अस्वीकार कर दिया। अन्त मे वे गुरु के पास लौट गए और बड़े भारी सिद्ध हुए। हाथ पैर कट जाने के कारण वे चौरंगी हुए थे। इसीलिये इनका नाम चौरंगीनाथ हुआ। स्यालकोट मे अब भी वह कुआँ दिखाया जाता है जहाँ पूरन भगत को फेंका गया था।

पूरन भगत की यह कहानी यो० स० आ० मे भी दी हुई है (पृ० ३७२)। वहाँ स्यालकोट का नाम शालीपुर दिया हुआ है। संभवत. ग्रन्थकार ने स्याल का शुद्ध सस्कृत रूप 'शालि' समझा है। परन्तु वास्तव मे पुराना नाम 'साकल' है।

राजा रसालू पूरन भगत के वैमात्रेय भाई थे। इनके समय को लेकर पडितो ने अनेक अनुमान भिड़ाए हैं। सन् १८८४ ई० मे टेंपुल ने खोज करके देखा कि राजा रसालू का समय सन् ईसवी की आठवी शताब्दी हो सकता है। उनके अनुमान का आधार यह था कि पजाब की दो जाट जातियाँ—सिद्ध और ससी—अपने को इनके वश का बताती हैं। सिद्ध लोग अपना सबध जैसलमेर के सस्थापक जैसल नामक राज-पूत राजा से बताते हैं। इस राजा की मृत्यु सन् ११६८ ई० मे हुई थी और इसने जैसलमेर की स्थापना सन् ११५६ ई० मे की थी। ससी लोग और भी पुराने काल से अपना सम्बन्ध बताते हैं। वे अपने को सालवाहन के पिता राजा गज के वशधर मानते हैं। टाड ने लिखा है कि राजा गज से गजनी के सुलतान की लड़ाई हुई थी। अन्त तक गज हार गया था और पूरब की ओर हटने को बाध्य हुआ था। उसी ने स्याल-कोट की स्थापना की थी। बाद मे उसने गजनी का भी अपने अधिकार मे कर लिया था। यह सातवी शताब्दी के अन्त की घटना है और इस प्रकार राजा रसालू का काल आठवीं शती होता है। अरबी-इतिहास लेखको ने आठवी शताब्दी के प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसके नाम को नानाभाव से लिखा है। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय मे संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिंदू राजा के साथ मुहम्मद क़ासिम ने सिंध मे सधि की थी। सधि का समय आठवी शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार टेम्पुल ने अनुमान किया है कि रिसल असल मे रसालू ही होगा और उसका समय आठवी शताब्दी के आदिभाग मे होना चाहिए[1] कुछ पडितो ने तो

१ ब्रिग्स : पृ० २३९-२४१।

राजा शालिवाहन को शकसवत् का प्रवर्तक माना है। डा० हचिसन ने इन्हें पँवार राजपूत माना है। ये इनके मत से यदुवशी राजपूत थे और रावलपिण्डी—जिसका पुराना नाम गजपुरी है—इनकी राजधानी थी। वाद मे सीथियनो से घोर युद्ध के वाद इन्हे पूरव की ओर हटना पडा। तभी स्यालकोट मे इनकी राजधानी हुई। व्रिग्स साहव ने इन सव वातो पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि यह सब कहानियाँ केवल यही सिद्ध करती हैं कि राजा रसालू के समय मे सीमान्त पर हिंदुओ और विधर्मियो का जवर्दस्त सघर्ष चल रहा था। और इसीलिये पूरन भगत और राजा रसालू का समय वस्तुत. ग्यारहवी शताब्दी के पूर्व मे ही होना चाहिए।[1]

स्पष्ट ही है कि राजा रसालू या पूरनभगत को ग्यारहवी शताब्दी मे खीच ले आने का कोई स्पष्ट प्रमाण नही है। केवल अनुमान के वल पर समस्त प्रकार की परम्पराओ और ऐतिहासिक सच्चाइयो के विरुद्ध कोई निर्णय करना साहस मात्र है। परम्पराएँ और ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्टरूप स पूरनभगत और राजा रसालू को गोरक्षनाथ के पूर्व ले जाते हैं। इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि वस्तुत ही ये दोनो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित या समर्थित शैव साधको मे कुछ योगाचार रहा होगा जिसे गोरक्षनाथ ने नये सिरे से अपने मत मे शामिल कर लिया होगा। उनको गोरक्षनाथ का शिष्य वताने वाली कहानियाँ परवर्ती हैं। गोरक्षनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष हुए थे कि उनका नाम अपने पथ के पुरोभाग मे रखे विना उन दिनो किसी को गौरव मिलना सभव नही था। जो लोग वेद विमुखता और ब्राह्मविरोधिता के कारण समाज मे अगृहीत रह जाते, वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।

इस प्रकार पूर्ववर्ती सप्रदाय का नवोदित शक्तिशाली सप्रदाय मे अन्तर्भुक्त होना अनहोनी वात नही है। परवर्ती इतिहास मे इसके अनेक प्रमाण हैं। चैतन्यदेव के नवोदित भक्तिमार्ग मे अनेक तान्त्रिकमत प्रवेश कर गये थे। नित्यानन्द के साथ वहुत वडा अर्धवौद्ध दल उस सप्रदाय मे आ गया था। सूरदास गऊघाट पर रहा करते थे और शिष्य वनाया करते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य से जव वे प्रभावित हुए तो समस्त शिष्य वल्लभ संप्रदाय मे प्रविष्ट हो गये। कवीरदास के पथ मे अनेक पूर्ववर्ती योगी जातियाँ शामिल हो गई थी—यह हम अपनी 'कवीर' नामक पुस्तक मे दिखा चुके हैं। यह लक्ष्य करने की वात है कि रावल लोग—जो वस्तुत लाकुल या लकुलीश सप्रदाय के पाशुपत थे—अपना सवध राजा रसालू से वताते हैं और उनकी एक प्रधान शाखा—गल या पागलपथी—चौरगीनाथ को अपना मूल प्रवर्त्तक मानते हैं। चौरगीनाथ पूरनभागत का ही नामान्तर वताया जाता है।

४ पुरो के सतनाथ

यह भी शिव द्वारा प्रवर्तित टक या पथ की शाखा से सवद्ध वताया जाता है।

---

१. व्रिग्स : पृ० २३६-२४१।

धरमनाथ इसी सप्रदाय के थे जिनके विषय मे प्रसिद्ध है कि रावल पीर के रूप मे पुनर्बार अवतरित हुए थे। इन दिनो भी पुरी के सतनाथी लोग अपने को अन्यान्य सप्रदायो से कुछ विशिष्ट मानते हैं। सन् १९२४ मे पुरी महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि वे लोग कपडे से लिपटा हुआ जो एक तृणदण्ड रखते हैं, वह उनका विशेष चिह्न है।[1] इसे वे लोग 'सुदर्शन' कहते हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि लगुलि या लाठी लकुलीश की विशेषता है। ब्रिग्स साहब को भी इस दण्ड को देखकर सन्देह हुआ है कि यह लकुलीश सप्रदाय का अवशेष होगा।[2] लकुलीश सप्रदाय मे किस प्रकार का लगुड धारक किया जाता था, उसका आभास हुविष्क की सुवर्ण मुद्राओ से मिल जाता है।[3] लकुट शिव क्यो धारण करते हैं। इस मत के अनुसार समस्त वद्ध जीव 'पशु' हैं और शिव एकमात्र स्वतन्त्र पशुपति हैं। पशुओ अर्थात् बद्धजीवो का नियमन ही लकुट या लगुल धारण करने का उद्देश्य है। इस प्रसग मे यह उल्लेख योग्य है कि दीर्घकाल से गोरक्षपथी योगी एक प्रकार का दण्ड या डडा धारण करते आ रहे हैं। कबीरदास ने भी इस डडे को लक्ष्य किया था और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी।[4]

यह खूब सभव है कि जिसे सतनाथी साधु 'सुदर्शन' कहते हैं वह लाकुलीशो के लकुल का अवशेष हो। तेरहवी चौदहवी शताब्दी तक सतनाथी धरमनाथ को 'रावल' समझा गया था। इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि सतनाथी शाखा भी पाशुपतो की ही कोई शाखा होगी जो बाद मे गोरक्षनाथ के प्रभाव मे आई होगी।

शिव के अन्यान्य सप्रदायो के बारे मे विशेष कुछ ज्ञात नही हो सका है किन्तु अधिक शोध करने पर उनका भी सम्बन्ध किसी न किसी पुराने शैव सप्रदाय से अवश्य सिद्ध होगा।

---

१ ब्रिग्स : पृ० १२४।

२ वही : पृ० २२, टिप्पणी।

३ जे० एफ़० फ़्लीट ने रायल एसियाटिक सोसायटी के सन् १९०७ ई० के जर्नल (पृ० ४२१ की पाद टिप्पणी) मे लिखा है कि लकुल 'खट्वांग' नामक शिव के शस्त्र का पर्याय होगा। खट्वांग' खटिया के पाये के आकार का शस्त्र होता था जो बहुत कुछ गदा के समान ही समझा जाना चाहिए। यह लक्ष्य करने की बात है कि दक्षिण के पह्लव राजा लोग अपनी पताकाओं पर खट्वाग का चिह्न व्यवहार किया करते थे। फ़्लीट ने कहा कि यदि लकुल और खट्वाग एक ही हों तो इन पह्लवों को भी लकुल-संप्रदाय का अनुयायी समझना चाहिए।

४. कथा पहिरि डड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुदरा स्रवन कठ जपमाला। कर उपदान काध बघछाला॥
—पदुमावती, पृ० २३८।

पाठको को यह जानने की इच्छा हो सकती है कि लकुलीश मत के मान्य सिद्धान्त क्या थे ?[१] अभी तक इस सप्रदाय का उल्लेख योग्य एक ही ग्रथ अनन्तशयन सस्कृत ग्रथमाला मे कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्थ भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ है। इन पशुपतो के अनुसार पाँच ही पदार्थ होते हैं, कारण, कार्य, योग, विधि और दु खान्त। इनमे (१) कारण तो साक्षात् पशुपति अर्थात् शिव ही हैं, (२) कार्य तीन हैं, (i) बद्धजीव जिसे 'पशु' कहा जाता है (ii) उसका ज्ञान (विद्या) और (iii) उसे परतत्र बनाने वाली जड वस्तु (कला)। जो पशु (जीव) शरीर और इद्रियो को धारण किये रहता है वह 'साजन' कहलाता है और जो इनसे मुक्त हो गया होता है वह निरजन। (३) चित्तद्वार से आत्मा और ईश्वर के सयोग को योग कहते हैं और (४) वाह्य आचारो को विधि। विधि दो प्रकार की होती है, व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत हैं। इन लोगो की विधियो मे नाचना, गाना, अट्टहास करना, स्त्री का स्वाग करना, अनर्गल वकना, लोकनिंदित कार्य करना, उच्छिष्ट-भक्षण आदि का भी उल्लेख है। (५) दु खान्त दु ख से परनिवृत्ति या मोक्ष को कहते हैं, जो योग और विधि द्वारा प्राप्त होता है। 'सर्वदर्शन सग्रह' में इनके मत की विस्तृत चर्चा है। वहाँ वताया गया है कि ये लोग वैष्णवो की बताई हुई मुक्ति को सर्वदु ख से निवृत्ति नही मानते क्योकि वैष्णव लोगो का विश्वास है कि आत्मा मुक्त होने पर भी विष्णु का सेवक बना रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी पारतभ्य दु ख से निवृत्ति नही हुई। पर इनके मत से मुक्त होने पर जीव परमेश्वर के गुण से युक्त होकर उन्ही के समान हो जाता है।[२]

५. योगमार्गीय शाखा

गोरक्षनाथ के प्रवर्तित छ· मार्ग बताए जाते हैं। इनमे जिन पथो का पुराना परिचय प्राप्त है, वे मुख्यतः योगमार्गीय हैं। उनमे कई प्रकार की पुरानी साधनाओ के भग्नावशेष अब भी पाए जा सकते हैं। इनमे वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध और सभवत वैष्णवयोगपरक सप्रदाय अतर्भुक्त हुए हैं। कुछ इनमे ऐसे हैं, जिनका कोई पुराना सबध नही खोजा जा सका। परन्तु अधिकाश ऐसे हैं जिनका पुराना सबध आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। अब यह बात अविदित नही रही कि नवी शताब्दी के पहले लगभग सभी सप्रदायो मे योगमार्ग और तात्रिक क्रियाओ का प्रचार हो गया था।

---

१. हिंदी पाठक निम्नलिखित प्रबध पढ सकते हैं :
   (१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २५६-७ मे प० गौरीशकर हीराचद ओझा की टिप्पणी।
   (२) विश्वभारती पत्रिका (खड १, पृ० २४२-२४९) मे प० बलदेव उपाध्याय का लेख।

२ स० द० स०: पृष्ठ १६१।

क्या वैष्णव और क्या शैव, सभी मे मत्र, मुद्रा, योग, चक्र आदि की उपासना प्रचलित हो गई। शैव और वैष्णव दोनो ही सप्रदायो मे आगमो और सहिताओ की प्रामाण्यता स्वीकृत हुई। आगम तीन प्रकार के हैं, वैष्णवागम या सहिताएँ, शैवागम और शाक्त-आगम या तत्र। हमे पूर्ववर्ती अध्यायो मे शैव और शाक्त आगमो का परिचय थोडा बहुत मिल चुका है। इस स्थान पर प्रसग प्राप्त वैष्णव-सहिताओ की सक्षिप्त चर्चा कर लेने से आगे कही जाने वाली वात कुछ अधिक स्पष्ट होगी।

वैष्णवागम दो प्रकार के हैं : 'पाचरात्र संहिताएँ' और 'वैखानससूत्र'। दक्षिण मे अब भी ऐसे बहुत से मन्दिर हैं जहाँ वैखानस सहिताओ का व्यवहार होता है, परन्तु प्राचीन काल मे और अधिक होता था। कहते हैं, रामानुजाचार्य के हस्तक्षेप से वैखा-नस सहिताओ का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पाँचरात्र सहिताओ का प्रचार वढा। तिरुपति के वेंकटेश्वर मदिर तथा कांजीवरम् के कई मदिरो मे अब भी वैखानस सहिताएँ व्यवहृत होती हैं। पांचरात्र सहिताओ और वैखानस सहिताओ की व्यवहार विधि मे अन्तर है। अप्पयदीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है और वैखानस मत वैदिक। सो, पांचरात्र मत का अभ्युत्थान इस युग की प्रधान विशे-षता है। श्रेडर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता' मे कहा है कि यद्यपि बहुत सी सहिताएँ बाद मे बनी हैं परन्तु इनमे बारह प्राचीन सहिताएँ निश्चित रूप से नवी शताब्दी के पहले बन चुकी थी और कुछ का अस्तित्व तो सन् ईसवी के पूर्व भी था।

इन सहिताओ मे शैव आगमो की भाँति ही चार विषयो का प्रतिपादन है:— (१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धो का निरूपण, (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनीभूत योगक्रियाओ का वर्णन, (३) क्रिया अर्थात् देवालय के निर्माण, पूजन, मूर्ति प्रतिष्ठा आदि विषयो के विधान और (४) चर्या अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियो तथा यन्त्रों की पूजापद्धति और पर्वविशेष के उत्सवादि।[1] इनमे चर्या का वर्णन ही बहुत अधिक हुआ करता है। बाकी मे क्रिया, ज्ञान और योग की चर्चा हुआ करती है। बहुत कम सहिताओ मे चारो पदो पर ध्यान दिया गया। 'पाद्मतत्र' एक ऐसी सहिता है जिसमे सभी पाद भली भाँति आलोचित हैं। पर इसमे भी योग के लिये ग्यारह पृष्ठ, ज्ञान के लिये पैंतालीस, क्रिया के लिए दो सौ पन्द्रह और चर्या के लिये ३७६ पृष्ठ हैं।[2] इसी से संहिताओ का प्रधान वक्तव्य विषय समझा जा सकता है। वस्तुतः ये प्रधान विषय क्रिया और चर्या ही हैं। इसीलिये सहिताओ को वैष्णवो का कल्पसूत्र कहा जाता है। शास्त्रीय विभाग को छोड दिया जाय तो इनमे मन्त्र, यन्त्र, मायायोग, योग, मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठान विधि, सस्कार

---

१. भारतीय दर्शन : पृ० ४६३।
२. श्रेडर : इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐन्ड अहिर्बुध्न्य सहिता, पृ० २२।

(आह्निक), वर्णाश्रम धर्म और उत्सव, इन्ही दस विषयो का विस्तार अधिक है।[1] यह विषय सूची ही स्पष्ट कर देती है कि सहिताओ मे तान्त्रिक पद्धति और योग की प्रधानता है। प्रकृत प्रसग यह है कि हमारे आलोच्य काल मे वैष्णव-सप्रदाय मे योगक्रिया का प्रवेश हो गया था। और इन योग और तन्त्रमूलक शास्त्रो को अवैदिक भी बताया जाने लगा था। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, आदि मार्गों मे भी योग क्रिया का प्रवेश हुआ था। इनमे निश्चय ही स्तर-भेद वर्तमान था। कुछ शाखाएँ ऐसी थी जो सप्रदाय के वैदिकता-प्रवण मार्ग से दूर विक्षिप्त हो गई थी और योग क्रियाओ को अधिकाधिक अपनाने लगी थी। गोरक्षनाथ के मार्ग मे इन्ही सप्रदायो का सम्मिलन हुआ। आगे भिन्न-भिन्न मार्गों का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) भर्तृहरि—गोरक्षनाथ के एक अन्य पथ का नाम वैराग्य पथ है। भरथरी या भर्तृहरि इस पथ के प्रवर्तक हैं। भर्तृहरि कौन थे, इस विषय मे पडितो मे नाना प्रकार के विचार हैं परन्तु पथ का नाम वैराग पथ देखकर अनुमान होता है कि 'वैराग्य शतक' नामक काव्य के लेखक भर्तृहरि ही इस पथ के मूल प्रवर्तक होंगे। दो बातें सभव हैं—(१) या तो भर्तृहरि ने स्वय कोई पथ चलाया हो और उसका नाम वैराग्य मार्ग दिया हो या (२) बाद मे किसी अन्य योगमार्ग ने 'वैराग्य शतक' मे पाये जाने वाले वैराग्य शब्द को अपने नाम के साथ जोड लिया हो। 'वैराग्य शतक' के लेखक भर्तृहरि ने दो और शतक लिखे हैं, 'शृङ्गार शतक' और 'नीति शतक'। इन तीनो शतको को पढने से भर्तृहरि की जिन्दादिली और अनुभवीपन खूब प्रकट होते हैं। चीनी यात्री इत्सिग ने लिखा है कि भर्तृहरि नामक कोई राजा था जो सात बार बौद्ध सन्यासी बना और सात बार गृहस्थ आश्रम मे लौट आया। वैराग्य और शृङ्गार शतको मे भर्तृहरि के इस प्रकार के सशयित भावावेगो का प्रमाण मिलता है। सभवत शतको के कर्त्ता भर्तृहरि इत्सिग के भर्तृहरि ही हैं। उनका समय सप्तम शताब्दी के पूर्वभाग में ठहरता है। कहानी प्रसिद्ध है कि अपनी किसी रानी के अनुचित आचरण के कारण ये विरक्त हुए थे। 'वैराग्य शतक' के प्रथम श्लोक से इस कहानी का सामजस्य मिला लिया जा सकता है। परन्तु इसी भर्तृहरि से गोरक्षनाथ के उस शिष्य भर्तृहरि को जो दसवीं शताब्दी के अन्त मे हुए होंगे अभिन्न समझना ठीक नही है। यदि 'वैराग्य शतक' के कर्त्ता भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि सारे शतक मे गोरक्षनाथ का नाम भी नही आया है? यही नही, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग 'वैराग्य शतक' के कर्त्ता परिचित नही जान पडते। मेरा इस विषय मे यह विचार है कि भर्तृहरि दो हुए हैं, एक तो 'वैराग्य शतक' वाले और दूसरे उज्जैन राजा जो अन्त मे जाकर गोरक्षनाथ के शिष्य हुए थे। भर्तृहरि का वैराग्य-मत गोरक्ष द्वारा अनुमोदित हुआ और बाद मे परिवर्ती भर्तृहरि के नाम से चल पडा। इस मत को भी गोरक्ष द्वारा 'अपना' मत माना जाना इसीलिए हुआ होगा कि कपिलयानी शाखा तथा नीम-

---

१ श्रेडर : इन्ट्रोडक्शन टु दि पाचरात्र ऐण्ड आहिर्बुध्न्य सहिता, पृ० २६।

नाथी पारसनाथी—शाखा की भाँति इनमे योगक्रियाओ का बहुत प्रचार होगा । द्वितीय भर्तृहरि के विषय मे आगे कुछ विचार किया जा रहा है । यह विचार मुख्य रूप से दन्तकथाओ पर आश्रित है । इसके विषय मे नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं । मुख्या कथा यह है कि ये किसी मृगीदल-बिहारी मृग को मार कर घर लौट रहे थे । तव मृगियो ने नाना प्रकार के शाप देना शुरू किया और वे नानाभाव से विलाप करने लगीं, दयार्द्र राजा निरुपाय होकर सोचने लगा कि किसी प्रकार यह मृग जी जाता तो अच्छा होता । संयोगवश गुरु गोरक्षनाथ यहाँ उपस्थित हुए और उन्होने इस शर्त पर कि मृग के जी जाने पर राजा उनका चेला हो जायगा, मृग को जिला दिया । राजा चेला हो गया । कहते हैं गोपीचद की माता मयनामती (मैनावती) इनकी बहन थी ।

हमारे पास 'विधना क्या कर्तार' का बनाया हुआ 'भरथरी' चरित्र' है जो दूधनाथ प्रेस, हवडा से छपा है । इस पुस्तक के अनुसार भरथरी या भर्तृहरि उज्जैन के राजा इन्द्रसेन के पौत्र और चन्द्रसेन के पुत्र थे। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व राजा सिहलदेश की राजकुमारी सामदेई से विवाह करके वही रहता था । वही मृग का शिकार करते समय उसकी गुरु गोरखनाथ से भेंट हुई थी । हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि योगियो का सिहलदेश वस्तुत. हिमालय का पाददेश है, आधुनिक सीलोन नही ।

एक और कहानी मे वताया जाता है कि भर्तृहरि अपनी पतिव्रता रानी पिंगला की मृत्यु के वाद गोरक्षनाथ के प्रभाव मे आकर विरक्त हुए और राज्य अपने भाई विक्रमादित्य को दे गये । उज्जैन मे एक विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) नामक राजा सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य करता रहा ।[1] इस प्रकार भर्तृहरि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के ठहरे । एक दूसरी कहानी मे रानी पिंगला को राजा भोज की रानी वताया गया है । राजा भोज का राज्यकाल १०१८ से १०६० ई० वताया गया है ।[2] एक दूसरे मूल से भी भर्तृहरि मयनामती और गोपीचन्द्र का सम्वन्ध स्थापित किया जा सका है । पालवश के राजा महीपाल के राज्य मे ही, कहते हैं, रमणवज्र नामक वज्रयानी सिद्ध ने मत्येन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर शैव मार्ग स्वीकार किया था । यही गोरक्षनाथ हैं । पालो और प्रतीहारो (उज्जैन के) का झगडा चल रहा था । कहा जाता है कि गोविन्दचन्द्र महीपाल का समसामयिक राजा था और प्रतीहारो के साथ उसका सम्वन्ध होना विचित्र नही है ।[3]

(२) गोपीचन्द्र और मयनावती—गोपीचन्द और मयनामती (मयनावती) की कहानी सारे भारतवर्ष मे पाई जाती है । गोपीचन्द वगाल के राजा मानिकचन्द के पुत्र थे । मानिकचन्द का सम्वन्ध पालवश से वताया जाता है जो सन् १०६५ ई० तक

१. ब्रिग्स : पृ० २४४ ।
२. ट्रा० फा० से० प्रो० : जिल्द २, पृ० ४०३ और ब्रिग्स पृ० २०४ ।
३. ब्रिग्स : म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री के आधार पर ।

वंगाल मे शासनारूढ था । इसके वाद ये लोग पूर्व की ओर हटने को वाध्य हुए थे। कुछ पडितो ने इस पर से अनुमान किया है कि ये ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ मे हुए होंगे । गोपीचन्द का ही दूसरा नाम गोविन्दचन्द्र है । हमने मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित करने के प्रसग मे तिरुमलय मे प्राप्त शैललिपि पर से इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होना पहले भी अनुमान किया है । गोपीचन्द मयनामती के पुत्र थे जो किसी हाडी सिद्ध की शिष्या वताई जाती हैं । ये हाडी सिद्ध जालधरनाथ ही थे, ऐसी प्रसिद्धि वगाल मे पाई जाती है । सिंध मे गोपीचन्द पीर पटाव नाम से मशहूर हैं । पीर पटाव की मृत्यु सन् १२०६ ई० मे हुई थी । 'तुफ़तुल क़िरान' में पीरपटाव की कहानी दी हुई है । यह कहानी गोपीचन्द को १२वी शताब्दी मे पहुँचाती है । परतु पीर पटाव गोपीचन्द ही थे या नही, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है । जो हो इसमे सदेह नही कि गोपीचन्द वंगाल के राजा थे । इतिहास मे यह शायद अद्वितीय घटना है जव माता ने पुत्र को स्वय वैराग्य ग्रहण करने को उत्साहित किया हो । गोपीचन्द की कहानियाँ इस प्रकार हैं—

(१) गोपीचन्द वगाल के राजा थे, भर्तृहरि की वहन मैनावती इनकी माता थी । गोरक्षनाथ ने जिस समय भर्तृहरि को ज्ञानोपदेश दिया था, उसी समय मैनावती ने भी गोरक्षनाथ से दीक्षा ली थी । वह वगाले के राजे से व्याही गई थी । इसके एक पुत्र गोपीचन्द और एक कन्या चन्द्रावली ये दो सन्ताने थी । चन्द्रावली का विवाह सिंहलद्वीप के राजा उग्रसेन से हुआ था । पिता की मृत्यु के वाद जव गोपीचन्द वगाले का राजा हुआ तो उसके सुन्दर कमनीय रूप को देखकर मैनावती के मन मे आया कि विषयसुख मे फँसने पर इनका यह शरीर नष्ट हो जायगा । इसीलिये उसने पुत्र को उपदेश दिया कि 'वेटा, जो शाश्वत-सुख चाहता है तो जालधरनाथ का शिष्य होकर योगी हो जा ।' जालधरनाथ सयोगवश वहाँ आये हुये थे । गोपीचन्द राजपाट छोड योगी हो कदलीवन मे चले गये । पीछे से अपनी वहिन चन्द्रावली के अत्यन्त अनुरोध पर उसे भी योगी वनाया (सु० च० पृ० २५०) ।

(२) दुर्लभचन्द्र के गोविन्दचन्द्रेर गीत का कथा-सार—जालंधरिपाद या हाडिपा शिव के शापवश पाटीका-भुवन (या मेहारकुल) मे राजा गोविंदचद्र और उनकी सिद्धा माता मयनामती के घर नीच कर्म किया करते थे । मयनामती ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि इस हाडी का शिष्य वनकर महाज्ञान प्राप्त करो और अमर हो जाओ । राजा ने तो पहले नीच जाति से दीक्षा लेना स्वीकार नही किया । राजा ने माता से पूछा कि तुमको अगर सिद्धि प्राप्त है तो पिता जी क्यो मर गए । रानी ने वताया कि किस प्रकार पति को वचाने के लिए लौहकपाट-वद्ध गृह मे वद करके पहरा देती रही, किस प्रकार यमदूत वार वार आकर रानी की सिद्धि के भय से लौट गए, फिर किस प्रकार एक सप्ताह वाद राजा के अत्यन्त आग्रह से वे भोजन वनाने के लिए वहाँ से हटी और मौका देखकर यमदूत वहाँ से पति को ले गए । फिर रानी भ्रमरी वन कर यमपुर गई । यम ने कहा कि अनजली मिट्टी ले आओ तो तुम्हारे पति को जिला

दू। पर वह गगा के गर्भ मे है जिससे सब जीव बचे हुए हैं। रानी ने उस मिट्टी को लेना उचित नही समझा और पति नही बच सके। गोरखनाथ ने रानी को जलते जतुगृह मे प्रवेश करने को कहा। वहाँ से वह साफ निकली। फिर तो राजा माता की सिद्धि देखकर दीक्षा लेने को राजी हो गया। हाडिपा या जालन्धरिपाद ने शिष्य करने मे आपत्ति दिखाई। पर राजा ने छोडा नही। बाद मे नगर मे से भिक्षा माग लेने की शर्त पर राजी हुए। राजा सारे नगर मारा फिरा पर जालन्धरिपाद के माया-प्रभाव से उसे किसी ने भिक्षा नही दी—अपनी प्रियतमा रानियाँ उदुना और पुदुना ने भी नही। अत मे माता मयनामती ने ही भिक्षा दी, पर गुरु ने उसे भी मायाबल से उडा दिया। हैरान राजा गोविन्दचन्द्र गुरु के पास खाली हाथ लौटे। गुरु ने कहा, दूसरे देश से भिक्षा ले आओ। शिष्य गुरु के साथ ही देशान्तर जाने को राजी हुआ। झोली ले भभूत रमा करके गुरु के साथ राजा-शिष्य निकल पडा। मस्ताने गुरु ने दक्षिण देश की किसी वीरागना के घर राजा को कुछ कौडियो पर बन्धक रखा। उसने राजा से प्रेम करना चाहा और प्रत्याख्यात होकर कष्ट देने लगी। इधर उदुना पुदुना रानियो ने अपनी वियोग-कथा को तोते-मैनो के पखो मे बाँध कर उडाया। वे सर्वत्र उडते हुए उस स्थान पर भी पहुँचे जहाँ राजा गोविदचद्र बन्दी थे। उनका समाचार तोते मैनो ने रानियो को दिया, रानियो ने सास मयनामती को, मयनामती ने गुरु जालन्धरिपाद को। इधर उस हीरा नामक वीरागना ने राजा को भेडा बना दिया। गुरु वहाँ पहुँचे। कौडियाँ लौटा कर उन्होने बन्धक माँगा। हीरा ने कहा कि वह आदमी तो मर गया। पर गुरु ने ध्यान बल से सब समझ लिया। हु कार छोडते ही भेडे का बन्धन टूटा और राजा भी मनुष्य हुए। इस बार शिष्य को लेकर गुरु यमलोक मे गए। वहाँ पर राजा ने अपने दुष्कर्मों का हिसाब देखा तो योगी होने का पक्का निश्चय कर लिया। गुरु ने अब राजा को महाज्ञान दिया। राजा महाज्ञान पाकर घर लौटे और रानियो को योगविभूति दिखाने लगे। हाडिपा ने जब यह जाना तो महाज्ञान हर लिया। अब राजा कोई भी चमत्मकार नही दिखा सके। रानियो ने हँसकर कहा बडे भारी गुरु हैं तुम्हारे। जादू और टोना भर जानता है वह आदमी। राजा ने विश्वास किया और दूसरे ही दिन हाडिपा को पकडवा मगाया। उस समय वे ध्यानस्थ थे। उसी अवस्था मे राजा ने उन्हें भूमि मे गडवा दिया।

इधर हाडिपा के शिष्य कानुपा ने गोरखनाथ के मुख से जो अपने गुरु का सवाद पाया तो बालक योगी का रूप धारण करके गोविन्दचन्द्र की राजधानी मे पहुँचे। योगी का प्रवेश वहाँ निषिद्ध था। कोतवाल ने इस शिशु योगी को पकडकर रानी उदुना के सामने पेश किया। बालक योगी ने बताया कि मैं गुरुहीन होकर भटक रहा हूँ। मैं योग भला क्या जानूँ और रानी के बन्धन से मुक्त हुए। तब कानुपा राजा के पास गये और एक हु कार छोडा। सोलहसौ हाडिपा के शिष्य उपस्थित हुए। राजा ने योगियो को भोजन कराना शुरू किया। भला योगियो का पेट कैसे भरता। अन्त मे राजा ने उन्हें सिद्ध समझा और असली परिचय पाकर भीत हुआ। राजा को

हाडिपा के क्रोध से रक्षा करने के लिए कानुपा ने तीन पुतलियाँ बनाईं। खोद कर हाडिपा को जब निकाला गया तो उन्होने क्रोधभरी दृष्टि से तीन बार गोविन्दचन्द्र को देखना चाहा तीनो बार कानुपा ने पुतलियाँ दिखाईं जो जलकर भस्म हो गईं। फिर गुरु कुछ शान्त हुए तब राजा गोविन्दचन्द्र ने क्षमा माँगी। अबकी बार वे सच्चे योगी हुए। कान मे शख का कुण्डल और शरीर मे भस्म रमा कर देशान्तर के लिये चल पडे। रानियो ने जो विलाप शुरू किया तो उन्हें प्रस्तरमूर्ति मे रूपान्तरित कर दिया। अबकी बार वे सचमुच अमर हुए और माता मयनामती प्रसन्न हुईं।

(३) मयनामती गान का साराश—एक बार गोरक्षनाथ राजा तिलकचन्द्र के घर गये। वही बालिका शिशुमती को महाज्ञान का उपदेश दिया। यही रानी मयनामती हुई। इसका विवाह राजा मानिकचन्द से हुआ। रानी ने मानिकचन्द को महाज्ञान का उपदेश करना चाहा पर वे स्त्री को गुरु बनाने को राजी नही हुए। राजा ने अन्त मे मयनामती को घर से निकाल दिया। वे 'फेरुसा' नगर में चली गईं। मानिकचन्द ने चार पटरानियो और १८० सामान्य भार्याओ के साथ बिहार करने मे काल बिताया। मृत्यु के समय उन्हें होश आया और रानी मयनामती को बुलवाया। जब तब रानी राजा के आदेश से हीरामाणिक्य खचित सुवर्ण भृङ्गार मे गगा का जल ले आने को गईं तब तक यमदूत राजा का प्राण ले भागे रानी ने यमदूतो से बहुत लडाई की, पर पति को नही बचा सकी। उस समय उनके गर्भ मे गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द्र थे। पैदा होकर यही लडका राजा हुआ। पर वास्तविक शक्ति रानी के ही हाथ मे रही। गोविन्दचन्द्र ने बडा होकर साभार (वर्तमान ढाका मे) के राजा की अदुना नामक कन्या से विवाह किया। द्वितीय कन्या पदुना दहेज मे मिली।

भट्टशाली द्वारा सपादित 'मयनामती के गान' मे ऐसा आभास पाया जाता है कि दाक्षिणात्य राजा राजेन्द्र चोल ने अपनी एक कन्या गोविन्दचन्द्र को देकर सधि स्थापित की थी। रानी मयनामती ने देखा कि १८ वर्ष की उमर मे यदि गोविन्दचन्द्र संन्यास नहीं लेता है तो उसको उन्नीसवे वर्ष मे मृत्यु निश्चित है। फलतः रानियो को रोती बिलपती छोड हाडिपा गुरु जालधरिपाद से दीक्षा लेकर राजा १२ वर्ष के लिए प्रव्रजित हुए। रानी ने जब हाडि से दीक्षा लेने की बात कही तो राजा ने बहुत प्रतिवाद किया यहाँ तक कि हाडी के साथ रानी के गुप्त प्रेम और अपने पिता को विष प्रयोग से मार डालने का अभियोग भी लगाया। पर रानी ने रोकर कहा कि हाडी और वे दोनो ही गोरक्षनाथ के शिष्य हैं। अस्तु राजा सन्यासी हुआ और दक्षिण देश की हीरा नामक वेश्या ने उससे प्रेम करना चाहा। प्रत्याख्यात होने पर उसने उसे नाना प्रकार के कष्ट दिए। एक दिन पानी भरते समय राजा को ज्ञात हुआ कि १२ वर्ष बीत गया और अपना जाँघ चीर कर रक्त से एक पत्र लिखकर कबूतर के पर मे बाँध कर उडा दिया। कबूतर ने उस खबर को यथास्थान पहुँचा दिया। तब गुरु हाडि ने आकर राजा का उद्धार किया। राजा दीर्घकाल बाद जब राजधानी लौटे तो अन्त पुर गए। वहाँ रानी अदुना उन्हे पहचान न सकी। अपरिचित को अन्त पुर मे जाते देख कुत्ता

ललकार दिया और हाथी से कुचलवा देने का आदेश किया। दोनो ने राजा को पहचान कर सिर झुका लिया। तब रानी ने उन्हे पहचाना और राजा सिंहासनासीन हुए। [दीनेशचद्र सेन के 'बगभाषा ओ साहित्य' (पृ० ५५ ५७) मे दी हुई कथा के आधार पर संकलित।]

(४) डॉ० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक मे पजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी मे सगृहीत कई हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर 'उदास गोपीचन्द, गाथा, गोरखपद' नाम से एक अश छापा है जो गोपीचन्द और उनकी माता मयनावती (मैनावन्ती) के संवाद के रूप मे है। माता ने पुत्र को योगी वेश मे देखकर बहुत दु ख अनुभव किया इस पर पुत्र ने याद दिलाया कि तुम्हारे ही उपदेश से मैंने यह वेश लिया है और जब मैं इस मार्ग मे रम गया तो तुम पछताती हो। संवाद के बाह्य रूप से ही स्पष्ट रूप मे मालूम होता है कि यह गोपीचन्द का अपना लिखा हुआ नही है। उनके मत को व्यक्त करने के लिये किसी ने बाद मे लिखा है। भाषा भी नई है। फिर भी इस सवाद मे से गोपीचन्द के मत को समझने मे सहायता तो मिल ही सकती है। सवाद मे गोरखनाथ को गोपीचन्द का गुरु बताया गया है।

म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने[1] गोपीचन्द और जालधरनाथ के सवाद रूप मे कुछ सस्कृत वाक्य उद्धृत किए हैं। ऐसा जान पडता है कि ये वाक्य किसी पुरानी हिन्दी कविता की सस्कृत छाया है। एक पद है, 'बसतौ स्थीयते तदा कन्दर्पो व्याप्नुते। बने स्थीयते तदा क्षुत् सन्तापयति।' सस्कृत वाक्य मे कोई तुक नही मिला परन्तु हिन्दी में यदि इसे 'व्यापै—सन्तापै' मान लिया जाय तो तुक मिल जाता है। छन्द भी हिन्दी बध मे ठीक उतरता है। सारा सवाद 'गोरखमछीन्द्र बोध' के अनुकरण पर लिखा हुआ परवर्ती है। सवाद के रूप मे सिद्धो की बातचीत के रूप मे पाई जाने वाली रचनाएँ सदेह मूलक हैं। उन पर से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना सब समय ठीक नही।

६. रसेश्वर मत

हमने ऊपर देखा है कि हठयोग मे प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। परन्तु हठयोग के ग्रन्थो मे तीन चाञ्चल्य धर्मी तत्त्वो का उल्लेख है जिनमे से किसी एक को वश मे लाने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ये हैं : (१) प्राण (२) मन और (३) बिन्दु प्रथम दो के संयमन-विधि की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। तीसरे की एक अत्यन्त विचित्र और परम उपकारी परिणति हुई है, यहाँ उसी का उल्लेख किया जा रहा है। बिन्दु का अर्थ शुक्र है। ऐसा जान पडता है, कि इसके अधोगति को कालाग्नि कहते थे[2] ऊर्ध्व-

१ स० भ० स्ट०· छठा भाग, १८२७

२. कृष्णपाद के 'दोहा कोष' के चौदहवें दोहे मे 'कालाग्नि', शब्द आता है। उसकी सस्कृत टीका (मेखला) मे कहा है कि 'कालाग्निश्च्युत्यवस्था'। बौ० गा० दो० पृ० १२८।

गति को 'कालाग्निरुद्र'[1]। नाना यौगिक क्रियाओं से बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है। उर्ध्वरेता के प्राण और मन अचचल हो जाते हैं तथा कुण्डलिनी-शक्ति उद्‌बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। यह 'कालाग्नि-रुद्रीकरण' योग मार्ग की एक महत्त्वपूर्ण साधना थी। 'कालाग्नि रुद्र' नामक एक उपनिषद भी है परन्तु इससे उपर्युक्त 'कालाग्नि रुद्र' का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। केवल इससे इतना ही जाना जाता है कि कालाग्नि रुद्र कोई देवता हैं, इनसे सनत्कुमार ने प्रश्न किया था कि भस्म धारण का तत्त्व क्या है? ऐसा जान पडता है कि जिस प्रकार बिन्दु के अधःपतन के देवता विषहर, नदिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरजन हैं[2] उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन के देवता कालाग्नि रुद्र हैं। सम्भवत. वज्रयानियो के कालाग्नि ही नाथ-सिद्धो के विषहर हैं। जो हो, विन्दु के ऊर्ध्वगमन से अमरत्व प्राप्ति हठयोग की एक महत्वपूर्ण साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वपातन। यह वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।

इसी साधना का भौतिक रूप मे भी विकास हुआ है। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज[3]। इन दोनो के मिश्रण को यत्र विशेष से ऊर्ध्वपातित करने से शरीर को अमर बनाने वाला रस तैयार होता है।[4]

किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत करके 'सर्वदर्शन सग्रह' मे वताया गया है कि चूंकि पारद (पारा) ससार सागर को पार करा देता है इसीलिए यह 'पारद' कहा जाता है। सदेह हो सकता है कि मुक्ति तो देह त्याग के बाद होती है, देह को अजर अमर बना देने वाला रसायन कैसे मुक्ति दे सकता है? उत्तर मे कहा गया है कि वस्तुत. यह शका वही लोग करते हैं जो यह नही जानते कि पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नही हैं वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं, इनके शुद्ध प्रयोग से मनुष्य त्याग किये बिना ही दिव्य देह पा कर मुक्त हो जाता है और समस्त मत्रसमूह उसके दास बन जाते हैं[5]। अभ्रक और पारद के मिलने से जो रस उत्पन्न होती है वह

---

१. उर्ध्वं स्वभावो यः पिण्डे स स्यात् कालाग्निरुद्रक —सि० सि० स० ३।५
२. अ म रौ घ शा स न : पृ० ८
३. अभ्रकस्तववीज तु मम वीज तु पारदः।
अनयोर्मिलन देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥
स० द० स० पृ० २२४
४. पारद की तीन दशा कही गई है—मूर्छित, मृत और वद्ध। ये ही प्राण की भी दशाएँ हैं। रससिद्धो ने कहा है कि ये दोनो ही मूर्छित होकर व्याधि हरते है, मृत होकर जिला देते है और वद्ध होकर अमर कर देते हैं—'मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्। बद्धश्चामरता नेति रसो वायुश्च भैरवि।'
५. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनु प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मत्रगण. किंकरो येषाम्॥ रसहृदय १।७

मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। 'रसेश्वर सिद्धान्त' मे राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पादाचार्य गोविंदनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक पुरुषो का इस रस-सिद्धि से जीवन्मुक्त सिद्ध होना बताया गया है।[1]

इस रसेश्वर मत का हठयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमेश्वर (शिव) ने एक बार देवी से कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का होता है—(१) रसमूलक और (२) वायु का प्राणमूलक। रस और वायु दोनो मे ही यह विशेपता है कि मूर्छित होने पर वे व्याधि को दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते हैं और बद्ध होने पर आकाश मे उडने योग्य बना देते हैं।[2] रस पारद का नाम है, क्योकि वह साक्षात् शिव के शरीर का रस है—मम देहरसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते।

रसग्रन्थो मे इसके स्वेदन, मूर्छन, पातन, निरोधन, मारण आदि की विधियाँ विस्तारपूर्वक बताई गई हैं। आज भी भारतीय चिकित्साशास्त्र मे रस का प्रचुर प्रयोग होता है। अमर बना देने वाला रसायन तो शायद किसी को नही मालूम पर पारद की अमोघ शक्ति का आविष्कार करके इन सिद्धो ने भारतीय चिकित्साशास्त्र को अपूर्व रूप मे समृद्ध किया है। रसायन-चिकित्सा-पद्धति मे बेजोड वस्तु है। सुप्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन ने लिखा है। आयुर्वेद के रसायन तत्र के आविष्कारक हैं रसवैद्य या सिद्ध सम्प्रदाय। "ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातु घटित चिकित्सा का विशेप प्रवर्तन किया था। आर्षकाल मे लोहा और सिलाजीत प्रभृति धातुओ का थोडा बहुत व्यवहार था जरूर, परन्तु पारदादि का अभ्यान्तर प्रयोग प्राय. नही था। रस-वैद्य सम्प्रदाय ने पहले पहल पारद के सर्व रोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन सग्रह' मे इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद मे इस मत्र का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेदशास्त्र को ऋपियुग का आयुर्वेद नही कह सकते। कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चद्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।"[3]

---

१ स० द० स : पृ० २०४

२ कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधास्मृतः॥
मूर्छितो हरित व्याधिन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्ध खेचरता कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥ स० द० स०, पृ० २०४

३ आयुर्वेद परिचय, (विश्व विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, १३५० बगाब्द) पृष्ठ १२-१३

उनमन सुन्न सुन्न सम कहीए।
उनमन हरख सोग नही रहीए।

इसमें २२ पौड़ियाँ (छंद विशेष) हैं। परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने मे मिली हैं उनमें १३ अध्याय हैं। यथा—(१) सुन्न महल की कथा (२) परम तत्त्व (३) ज्ञान [illegible] (४) हाटका (५) नौ नाड़ी (६) पच तत्त्व (७) योग मार्ग (८) काल वाच निर्योग (९) ज्ञाता-योग-वैराग (१० ओनम सुन्न (११) निर्योग भक्ति (१२) गुरु स्तुति (१३) तत्त्व खड की युक्ति (१४) श्री सत सपूर्ण सिंह जी की टीका सहित हिन्दी मे छपी हुई 'प्राणसगली' के इक्कीस अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ओअंकार सबका मूल, (२) नौ नाड़ी, (३) पच तत्त्व (४) सुन्न महल (५) परम तत्त्व (६) [illegible] प्रदान पिण्ड, ज्ञा० सिद्ध गोष्ट (७) योग मार्ग (८) रग-माला-योग-निधि (९) हाटका (१०) निर्वाण (११) उदास-कर्म-योग वैराग (१२) योग-वैराग-सबद की जुगत (१३) गोष्ट रामानन्द (१४) शून और उत्पत्ति (१५) सद्गुरु स्तुति (१६) काल-वाच-निर्योग-भक्ति (१७) कलावतीवानी (१८) निर्योग

---

१. मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ लिखित बताई जाने वाली एक 'प्राणसगली' नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर मे सुरक्षित है।

भक्ति (१८) छोटी रत्नमाला (२०) बडी रत्नमाला (२१) जीव की नसीहत के योग्य उपदेश ।[1]

'प्राणसगली' श्रीगुरु नानक जी ने शिवनाम के निमित्त दी थी, ऐसा कहा जाता है। क्या यह वही है ? कहना कठिन है, क्योकि उसे गुरु जी ने जल मे विसर्जन कर दिया था। सभव है पीछे इसका उद्धार किया गया हो लेकिन श्री गुरु ग्रथसाहिब मे इसका समावेश न होना यही प्रमाणित करता है कि यह ग्रन्थ गुरुवाणी का दरजा नही रखता। वारीकी के साथ देखने से और दोनो की तर्ज का मिलान करने से यह अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है, 'प्राण सगली' उदासी सतो की रचनाओ के अधिक नजदीक पडती है। 'ग्रन्थ साहिब' मे उसका समावेश न होने से ही यह सिद्ध होता है कि गुरु अर्जुनदेव जी ने इसे नानक जी की वाणी नही समझा, नही तो उनके द्वारा इसकी उपेक्षा असभव थी। जान पडता है प्रचलित घटिया वानियो से गुरुवानी का प्रभेद सुस्पष्ट रखने के उद्देश्य से ही अर्जुनदेवजी 'ग्रथ-साहिब' के संकलन कार्य मे प्रवृत्त हुए। सभव है 'प्राण सगली' को देख कर ही उन्हें ऐसा करने का विचार सूझा हो। इसमे कोई सदेह नही कि 'प्राणसगली' योग और रसायन का ग्रन्थ है। इसमे सिद्ध चरपटनाथ और गुरुनानक से वातचीत के रूप मे विविध रसायनो का उल्लेख है। वहुत सभव है गुरु गोरक्षनाथ की 'प्राण सगली' कोई वडी पुस्तक थी, यह ग्रथ उसी के अनुकरण पर लिखा गया हो।

इस प्रकार गोरक्ष सप्रदाय मे रसेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त हुआ है। सभवतः सिद्धों का यह सवसे महत्त्वपूर्ण दान है।

७. वैष्णव योग

गोरखनाथ के सम्प्रदायो के कपिलानी या कपिलायनशाखा वैष्णव योग की पुरानी परम्परा पर आश्रित होने से वैष्णव योग कही जा सकती है। कपिलमुनि विष्णु के अवतार थे। दशवी शताब्दी मे कपिलायनयोग किस रूप मे वर्त्तमान था, इसका आभास 'भागवतपुराण' से मिल सकता है। कपिल भगवान ने अपने माता देवहूति को इस योग का उपदेश दिया था। 'भागवत' के तृतीय स्कध के छब्बीसवे अध्याय से लेकर कई अध्यायो तक इसका विस्तृत वर्णन है। छब्बीसवें अध्याय मे साख्यशास्त्र के तत्त्ववाद का वर्णन है, फिर सत्ताईसवें अध्याय से योग का वर्णन है। सक्षेप मे भागवत मे उपदिष्ट मत का साराश यह है :

"परम पुरुष परमात्मा निर्गुण है, सुतरा अकर्त्ता और अविकार है। सूर्य जल में प्रतिविम्बित होने पर भी वास्तव मे जल का धर्म जो चचलता व हिलना है, उसमे लिप्त नही होता। वैसे ही यह पुरुष देह मे स्थित होने पर भी प्रकृति (माया) के गुणो के उत्पन्न जो सुख दु ख आदि हैं उनमें लिप्त नही होता।

---

१. गुरुप्रताप सूरज ग्रथ, पृ० २०४३ की पादटीका का हिन्दी रूपान्तर।

हे मात' ! वही एक निर्गुण आत्मा प्रकृति आदि चौबीस गुण समूह (सतोगुण युक्त मन आदि, रजोगुण युक्त इन्द्रियादि, तमोगुण युक्त पचभूतादि), द्वारा सज्जित हो कर अहकार मय होता है। उसी अहकार मे मूढ होकर अपने को ही प्रकृति कार्यों का कर्त्ता मानता है। अतएव अवारा होकर प्रासगिक कर्म के दोप से सत् (देव) असत् (तिर्यक) मिश्र (मनुष्य) योनियो मे उत्पन्न होकर ससार पदवी को प्राप्त होता है। (अर्थात् जन्म मरण से दु ख से पीडित होता है (२७-१-३)।

यम आदि योग-मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धापूर्वक मुझमे सत्य भक्तिभाव करे, मेरी कथाओ का श्रवण करे, सब प्राणियो को एक दृष्टि से देखे, किसी से वैर न करे असत्सग न करे, ब्रह्मचर्य और मौन (प्रयोजन भर बोलना) रहे, धर्म करे और उसे ईश्वरार्पण कर दे।

जो मिल जाय उसी मे सन्तुष्ट रहे, उतना ही भोजन करे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, मुनिव्रत का अवलम्बन करे, एकान्त मे रहे, शान्त स्वभाव धारण करे, सबसे मित्रभाव रखे, दया और धैर्य धारण किये रहे। प्रकृति और पुरुष का तत्त्व दिखाने वाले ज्ञान का ग्रहण कर इस देह अथवा इसके सगी स्त्री पुत्रादि मे 'मैं हूँ—मेरा है' इस असत् आग्रह को त्याग दे। बुद्धि के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओ को निवृत्त करके तुरीय अवस्था मे स्थित हो। सबमे अपने को, अपने मे सब को देखे, तब वह आत्मदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को प्राप्त होता है। जैसे चक्षुस्थित (चक्षु के अधिष्ठाता) सूर्य (वा तेज) द्वारा सूर्य का दर्शन होता है (अर्थात् चक्षु-स्थित सूर्य द्वारा आकाश स्थित सूर्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पूर्वोक्त नियम के पालन से अहकारयुक्त आत्मा द्वारा शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है) इस अवस्था को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। वह ब्रह्म निरुपाधि अर्थात् चिह्न रहित है तथा असत् अहकार मे सतरूप से भासित होता है। वह ब्रह्म सत् अर्थात् प्रधान का अधिष्ठान है, और असत् जो माया का कार्य है, उसके नेत्र के सदृश प्रकाशक है। कारण और कार्य दोनो मे आधार रूप से अनुस्यूत है एव अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है' (भागवत् १७. ६—११)

ससारी जीव के देह मे सर्वत्र ही ब्रह्म विराजमान है। उस ब्रह्म के तीन आवरण हैं। एक आवरण देह, इन्द्रिय और मन आदि हैं। दूसरा आवरण अहकार है। इन्द्रिय-मय देह मे आत्मा का तेज जितना है उसकी अपेक्षा अहकार वा चैतन्यमय देह में अधिक है। तृतीय आवरण प्रकृति है। आत्मा की प्रभा देखना हो तो वह आत्मा प्रकृति मे जाज्वल्यमान रूप से देख पडता है। अर्थात् प्रथम (आत्मगत) आत्म बिम्ब को देहादि-गत जानना होगा फिर आत्मसत्ता को अहकारगत बोध करना होगा, फिर वह दर्शक स्वभावगत प्रकृति से व्याप्त आत्मा का दर्शन कर सकने पर शुद्धब्रह्म के देखने मे समर्थ होगा। इस सुषुप्ति अवस्था मे सूक्ष्मपचभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इत्यादि तद्रा व निद्रा द्वारा असन्तुल्य अव्याकृत प्रकृति मे लीन, अर्थात् जडता को प्राप्त होने पर यह आत्मा विनिद्र अर्थात् ज्ञानरहित वा जडतारहित एव अहकारहीन होकर अपने स्वरूप अर्थात्

सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस समय यह आत्मा साक्षीरूप से अवस्थित होकर अपनी उपाधि (अहकार) के नष्ट होने पर स्वय नष्ट न होने पर भी अपने को नष्ट जानता है। जैसे धन के नष्ट होने पर आपही मानो नष्ट हो गये, इस प्रकार आतुर होते प्राय लोग देख पडते हैं। (भागवत २७ १२—१५) अपने धर्म का भक्ति-पूर्वक यथाशक्ति आचरण, विरुद्ध या निषिद्ध धर्म (अधर्म) निवृत्त होना, जो प्रारब्ध वा दैव वश प्राप्त हो उसमे सतोष, आत्मतत्व के जानने वाले ज्ञानियो के चरणो की सेवा-पूजा। ग्राम्य अर्थात् धर्म, अर्थ काम इस त्रैवर्गिक धर्म से निवृत्त मोक्षदायक धर्म मे रति, शुद्ध एव मित (जितने मे योगाभ्यास करने मे कोई विक्षेप न हो उतना ही) भोजन करना, बाधारहित निर्जन स्थान मे रहना। हिंसा (शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसा, अर्थात् दूसरे को मन, वाणी और काया से पीडित करना) न करना, सत्य बोलना, अन्यायपूर्वक पर-धन न ग्रहण करना, जितनी वस्तु की आवश्यकता है उतनी वस्तु का सग्रह रखना। ब्रह्मचर्य रहना, और तप, शौच (बाह्य व आन्तरिक), स्वाध्याय (वेद-पाठ), परमपुरुष का पूजन करना। मौन (प्रयोजन से अधिक न बोलना) रहना, आसन जीतकर स्थिर भाव से स्थिर होना, फिर धीरे-धीरे क्रम से प्राण वायु को जीतना, इन्द्रियो को मन द्वारा विषयो से हटाकर अन्त करण मे लीन करना। मूलाधार आदि प्राण के स्थानो मे किसी एक स्थान मे मन सहित प्राण को स्थित करना, भगवान की लीलाओ का मन मे ध्यान करना, एव मन को समाधि (एकाग्रता) मे लगाना। इन सम्पूर्ण एव इनके अतिरिक्त अन्य व्रत आदि उपायो से असत् (विषय) मार्ग मे लगे हुए दुष्ट मन को क्रमश. बुद्धि द्वारा योग-साधन मे लगाना चाहिए, एव आलस्य त्याग कर प्राणवायु को जीतना चाहिये।

(यम, नियम और आसन, इन तीन योग के अगो को क्रमश. कहकर अब प्राणा-याम आदि अग कहते हैं) तदनतर किसी पवित्र-स्थल मे आसनजित् व्यक्ति आसन बिछावे। उस आसन पर स्वस्तिकासन से अथवा जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके उस आसन से बैठकर शरीर को सीधा करके प्राणायाम का अभ्यास करे। पहले पूरक (बाहर के वायु को भीतर भरना) कुम्भक (उस वायु को भीतर रोकना) रेचक (उस वायु को बाहर निकाल देना) इस तीन प्रकार के प्राणायाम से अनुलोम वा प्रतिलोम क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध करे, जिससे वह अपने चचलता दोप को त्यागकर एकदम शान्त हो जाय। जैसे वायु और अग्नि के ताव से सोना अपने मल को त्याग देता है वैसे ही वारवार प्राणायाम द्वारा श्वासजय करने से योगी का भी मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इसके अनतर समाधि के द्वारा स्वरूप, प्राणायामादि जो चार कार्य मनुष्य को करना चाहिए उन्हें कहते हैं—प्रथन प्राणायाम द्वारा कफ, पित्त आदि शरीर के दोपो को दूर करे, फिर धारणा '(वायु के साथ मन को स्थिर करना) से किल्बिष अर्थात् पातक को नष्ट करे, फिर प्रत्याहार (सबसे हटाकर चित्त को ईश्वर मे लगाना) से ससर्ग अर्थात् विषय वासना को नष्ट करे, एव ध्यान से राग द्वेष आदि का त्याग करे। इन सातो अगो के पश्चात् अन्तिम आठवाँ अग समाधि (स्थिर मन की अपर ओर

प्रवृत्त होने की निवृत्ति) है। इस प्रकार जब मन भलीभाँति निर्मल और योग द्वारा एकाग्र हो तब नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि स्थिर रख कर भगवान् की इस प्रकार की सुन्दर मूर्ति का ध्यान करे। (भागवत २७.१—१२)।

मातः! इस भाँति ध्यान की आसक्ति से योगी को हरि मे प्रेम होता है, भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित हो जाता है। आनन्द के मारे रोम खडे हो जाते हैं। दर्शन की उत्कठा के कारण नेत्रो में आनन्द के आँसू भर आते हैं। इस प्रकार मन वाणी से न ग्रहण करने योग्य निराकार हरि के ग्रहण करने को वशी सदृश उपायस्वरूप उस साधक का चित्त क्रमशः ध्येय पदार्थ (अर्थात् उस कल्पित हरि के रूप) से वियुक्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विषयो से अतीत हो जाता है। (भागवत २७-३४)

जननि! इस ससार मे प्राणी जैसे धन और पुत्र को अति स्नेहवश अपना मानकर भी अपने से विभिन्न जानता है, वैसे आत्मज्ञानीजन शरीरादि को आत्मा से अलग देखते हैं। जैसे काष्ठ की ज्वलन्त अवस्था धूम, अग्नि, शिखा, ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न जान पडते हैं, पर अग्नि काष्ठ से और इन अवस्थाओ से भी अलग है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी अग्नि के सदृश पचतत्व इन्द्रिय, अन्त करण और जीव से अलग है। जीवात्मा से ब्रह्मात्मा वा परमात्मा पृथक् है। इसी भाँति प्रधान (माया स्वरूप तत्व समूह) से उनका प्रवर्त्तक साक्षी परमात्मा अलग है[1] (वही २७-३८—४०)।"

यही कपिल मुनि के उपदिष्ट योग का साराश है। यह सांख्य-तत्ववाद पर आश्रित पातजल योग का प्राणायाम प्रधान रूप है। प्राणायाम की महिमा इस योग में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार हठयोग मे। केवल इसमे भक्ति का मिश्रण है। इस प्रकार के योग मार्ग का कापिलायन सप्रदाय गोरक्षनाथ के झडे के नीचे आ खडा हुआ। निश्चय ही यह गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती है। इस प्रकार वैष्णव योग की साधना भी इस मार्ग मे अन्तर्भुक्त हुई है।

८. शाक्त उपादान और अन्य संप्रदायों के अवशेष

योगियो मे शाक्त उपासना पूरी मात्रा मे है। प्रायः सभी पीठो मे शक्ति की उपासना की जाती है और उसमे मत्र, बीज, यत्र, कवच, न्यास और मुद्राओ का उसी प्रकार प्रयोग होता है जिस प्रकार तान्त्रिक साधना मे हिंगलाज और ज्वालामुखी की देवियाँ योगियो की परम उपास्या हैं। काशी आदि तीर्थों मे भैरव के मन्दिर हैं और उनकी उपासना तान्त्रिक विधियो से होती है। यद्यपि गोरक्षनाथ ने कही भी मदिरा के सेवन का विधान नही किया तथापि 'भैरो का प्याला' योगियो मे नितान्त अपरिचित वस्तु नहीं है। परन्तु जो लोग मांस मदिरा की उपासना करते हैं उन्हें वृहत्तर योगि-समाज हीन ही समझता है। श्री चन्द्रनाथ योगी ने बडे खेद के साथ योगि समाज की

---

१. प० रूपनारायण पाडे का अनुवाद शुकोक्ति ६. सुधासागर से।

इन कुप्रवृत्तियो का उल्लेख किया है। उन्होंने श्री नाथ जी को सम्बोधन करते हुए लिखा है कि 'खेद है कि आपकी सन्तति आधुनिक योगि समाज मे अधिकाश ऐसे मनुष्य प्रविष्ट हो गये हैं जिन्होंने अपने नेत्रो के ऊपर पट्टी बाँध ली है....और अभक्ष्यास्वादन मे लोलुप हुए उसके ग्रहणार्थ हस्त प्रसृत कर आपकी आज्ञा को उपेक्षित करते हैं। बल्कि यही नहीं कि वे नीच से नीच शब्दवाच्य पुरुष स्वय ही ऐसा करते हो, प्रत्युत अपनी चाटूक्तियो से अवरुद्ध हुए भोले-भाले सेवको को भी उन अभक्ष्य पदार्थों के ग्रहणार्थ विवश करते हैं और उनको भयानक वाक्य सुनाते हैं कि "वाह यह तो भैरू का वा देवी का खाजा है, इसको स्वीकार न करोगे तो भैरू वा देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नही होंगे और तुम्हारा अनुष्ठान निष्फल जायगा। अहो अविद्ये.. जिस योगी नामधारी के ऊपर तेरी छाया पड़ती है वह चाहे पृथ्वी उलट-पुलट हो जाय पर, जिसके मुख पर भैरू का प्याला सुशोभित नहीं हुआ वह सच्चा योगी नहीं है - यह कहता हुआ कुछ भी आगा पीछा नहीं देखता।"[1] इन्होंने ही आगे चलकर लिखा है—"यम-नियम आदि आठ साधनो से शून्य रहते हुए योगियो के ऐसे कृत्य हैं कि वलि जत्र मन्त्र से देवी, भैरव आदि को प्रसन्न कर उच्चाटन मारण आदि क्रियाओ को प्राप्त करना, ध्यान लगाने की सुगमता के हेतु मादक चीजो का सेवन करना, क्रिया करते-करते शरीर दुर्बल होने पर सबल बनाने के भ्रम से मासादि अग्राह्य वस्तु का ग्रहण करना। आजकल वाल सुन्दरी आदि की उपासना मे समय नष्ट करते हुए योगी अपने आपको कृत-कृत्य समझ कर मनमानी चीज खाते तथा मनमानी वस्तु व्यवहार करते हैं।[2]

परन्तु कैसे कहा जाय कि 'कुलद्रव्य' का सेवन इन मार्ग मे था ही नही। स्वय 'आदिनाथ संहिता' ही कहती है कि जो कौलिको की, कुलमार्ग की, कुलद्रव्य की और कुलांगना की निन्दा करता है, उससे द्वेष रखता है, उपहास करता है, असूया करता है, शका करता है, मिथ्या कहता है, वह पुत्र पत्नी समेत शाकिनी-मुख से पतित होता है। उसका रक्त, उसका मांस और उसकी त्वचा चामुण्डा का आहार होता है। योगिनियाँ और भैरवियाँ उसकी हड्डी चवा जाती हैं।[3] शाक्तो का कुलार्णवतन्त्र स्पष्ट रूप से उस दिशा तक को नमस्कार करने योग्य घोषित करता है जिधर श्रीनाथ का चरण-

---

१ गो० स० आ० · पृ० ४१५

२ वही : पृ० ४४०

३ कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्य कुलांगना।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते निन्दन्ति च हसन्ति च ॥
ये सूयन्ते च शकन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबान्धवा ॥
पिबन्ति शोणित तस्य चामुण्डा मांसमुत्वच ।
अस्थीनि चर्वयन्तत्यस्य योगिन्यो भैरवीगणा ॥
—गो० सि० स०, पृ० ४७ मे उद्धृत ॥

कमल गया हो, क्योकि पादुका से बडा कोई मन्त्र नही है, श्री गुरु (नाथ) से बडा कोई देव नही है, शाक्त मार्ग से बढकर कोई मार्ग नही है और कुलपूजन से बढकर कोई पुण्य नही है।[१]

सो, यह आचरण नया नही है, काफी पुराना है। ऐसे ही योगियों का लक्ष्य करके हठयोग प्रदीपिका' मे कहा गया है कि वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमास का भक्षण करता है और ऊपर से 'अमर वारुणी' का पान करता रहता है। और योगी तो कुल-घातक है क्योकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलट कर तालु देश मे ले जाने को ही 'गोमास भक्षण' कहते हैं। निस्सन्देह यह महापातक को नाश करने वाला है। ब्रह्मरध्र के पास, सहस्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है, उसी से अमृत रस चुआ करता है, योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रस का पान करती है, वही अमर वारुणी है।[२] इसमें जिन्हे कुलघातक कहा गया है वे ऐसे ही योगी रहे होंगे जो देवी का 'खाजा' और 'भैंरू का प्याला' सभाले रहते होंगे।

वस्तुत. गोरक्षनाथ नेतृत्व मे ही वाममार्गी शाक्त साधको का एक दल जो काया योग मे विश्वास करता था, योगिसमाज के अन्तर्भुक्त हुआ था। उसकी अपनी क्रिया-पद्धति का अवशेष यह आचार है। कालक्रम से परम्परा के नष्ट होने के बाद अपने विशुद्ध पार्थिव रूप में जीता रह गया है।

परन्तु यह नही समझना चाहिए कि गोरक्षनाथ के प्रवर्तित योग-मार्ग में शक्ति का स्थान एकदम नही था। उन दिनो शैव और शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे से गुथी हुई थी। शिव और शक्ति का अभेद सिद्धान्ततः गोरक्षनाथ के मत में मान्य था। पिंड मे ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है जिसका उद्बोधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। वे विश्वास करते थे कि शिव के भीतर ही शक्ति का

---

१. श्रीनाथचरणाम्भोज यस्या दिशिविराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्तया प्रतिदिन प्रिये।
न पादुकात् परो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः।
न हि शाक्तात् परो मार्गो न पुण्य कुलपूजनात्॥
—गो० सि० स० (पृ० ४६) मे उद्धृत।

२ गोमास भक्षयेन्नित्य पिवेदमरवारुणी।
कुलीन तमह मन्ये तरे कुलघातकाः॥
'गो' शब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांस भक्षण तत्तु महापातक नाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतः वह्निनीत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सार' स स्यादमरवारुणी॥
—ह० ३. ४६-४८।

वास है और शक्ति के भीतर ही शिव का निवास है, दोनों एकमेक होकर अनुस्यूत हैं। पिन्ड की साधना के मूल मे यही शिव और शक्ति का अभेद रूपी सामरस्य है। हठयोग पिंड पर आधारित है और पिंड केवल परासंवित् रूपा आदि शक्ति का निवास है। चद्रमा और चद्रिका मे जिस प्रकार कोई अन्तर नही उसी प्रकार शिव-शक्ति अभिन्न हैं।[1] वस्तुतः जीवमात्र मे वही सृष्टि विधात्री परासंवित् स्फुटित हो रही है, तत्त्व-तत्त्व मे परम रचना-चतुरा वही परासंवित् प्रकाशित हो रही है, ग्रास-ग्रास मे—प्रत्येक भोग्य पदार्थ मे—चटुल-चपला लम्पटा वही परासंवित उद्भावित होकर विहार कर रही है, और प्रकाश के प्रत्येक तरग मे वही महामहिमा शालिनी देवी उच्छलित हो रही है—जगत् वस्तुतः उसी का स्वरूप है :

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना सविदेका विभाति।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना सविदेका विभाति॥
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका।
भासे भासे भजति भवता मु हिता संविदेका॥
—सि० सि० स० ४।३९

हमने अनेक स्थलो पर पहले ही वज्रयान, योगिनीकौलमार्ग, तन्त्रयान जैन मत आदि की चर्चा की है, इसलिए उनका विस्तार करना यहाँ उचित नहीं समझा गया।

---

१ उक्तं च—
शिवस्याभ्यन्तरं शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तर नैव पश्यामि चद्रचद्रिकयोरिव।
नाना शक्तिस्वरूपे सर्व पिण्डाधारत्वत.।
पिण्डधार इतीष्टाख्या सिद्धान्तति धीमताम्॥
—सि० सि० स० ४-३७-३८।

१४

लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश

सस्कृत मे योगियो के जो भी ग्रथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रथ हैं। उनसे योगियो के दार्शनिक और नैतिक उपदेशो का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी मे गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं उनमे भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमे योगियो के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक-मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है, इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओ का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी की बहुत-सी रचनाएँ सवाद रूप मे मिलती हैं। ऐसा जान पडता है कि दो महात्माओ के सवाद के रूप मे अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास को प्रकट करने की यह पद्धति नाथपथियो का अपना आविष्कार है। इस पद्धति ने परवर्ती सन्त साहित्य को खूब प्रभावित किया था और सवाद रूप मे अनेक ऐसे ग्रथ लिखे गए जिनका उद्देश्य सप्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार है। 'मछीद्र गोरखबोध' जिसे संक्षेप में 'गोरखबोध' कहा जाता है ऐसा ही सवाद ग्रथ है। इसमे गोरखनाथ के अनेक प्रश्नो का उत्तर मत्स्येद्रनाथ ने दिया है। यद्यपि यह ग्रन्थ गोरखनाथ-लिखित माना जाता है तथापि इसे हम मत्स्येद्रनाथ के सिद्धान्त का व्याख्याता ग्रथ ही कह सकते हैं। गोरखनाथ ने स्वय इस प्रकार का कोई ग्रथ लिखा होगा, ऐसा विश्वास न करना ही उचित है। यह बहुत बाद का ग्रथ होगा। लेकिन इसमे आत्मा, मन, पवन, नाद, बिंदु, सुरति और निरति आदि के स्वरूप पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है और इसे परवर्ती योगी-संप्रदाय का विश्वास व्यापक ग्रथ आसानी से माना जा सकता है। 'गोरषदत्त गुष्टि', 'गोरष गणेश गुष्टि', 'महादेव गोरष गुष्टि' 'नरवैबोध' आदि रचनाएँ इसी श्रेणी की हैं। इन्हें बहुत प्राचीन और गोरखनाथ की स्वलिखित पुस्तक मानने का आग्रह नही होना चाहिए। परन्तु इन ग्रन्थो का महत्व अवश्य ही बहुत अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि इनमे जो विचार प्रकट किए गए हैं वे भी नये हो। हो सकता है कि ये परपरा लब्ध पुरातन ज्ञान का ही नया रूप हो। रचना नई होने से ज्ञान नया नहीं हो जाता।

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन

है। इन पदों में से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानक देव के नाम पर पाए गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभव सिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिये ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधना मूलक बातें पाई जाती हैं जो इस प्रकार की सभी रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन है पर बहुत से पद ऐसे हैं जिनमें लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है।

जिस ज्ञान का उपदेश इस प्रकार के साहित्य में दिया गया है उसके लिए गुरु का होना परम आवश्यक माना गया है, इस मार्ग में निगुरे की गति नहीं है—

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुरु बिन ग्यान न पाईला रे भाईला॥

—गोरखबानी, पृ० १२८

गुरु और शिष्य में अन्तर इतना ही है कि गुरु के पास अधिक तत्त्व होता है और चेले के पास कम। अधिक तत्त्व वाले से कम तत्त्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इन ज्ञान को पा लेने के बाद शिष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि गुरु के पीछे-पीछे भटकता ही फिरे। मन में जँचे तो साथ रह सकता है, न जचे तो अकेला ही रह सकता है—

अधिक तत्त तें गुरु बोलिये हीण तत्त तें चेला।
मन मानै तौ संगि रमौ नहीं तो रमौ अकेला॥

गोरखबानी, पृ० ५५

योगी के लिये मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। उसे रात दिन चलते रहने की और नाना तीर्थों में भटकते फिरने की एकदम जरूरत नहीं है। क्योंकि पथ चलने से पवन की साधना रुक जाती है और नाद, विंदु और वायु की साधना शिथिल हो जाती है। फिर जिसका विश्वास है कि संपूर्ण तीर्थ घट के भीतर ही है वह भला कहाँ भरमाता फिरेगा ?—

पंथि चलै चलि पवनां तूटै नाद विंद अरु वाई।
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई॥

—गोरखबानी, पृ० ५५

मन यदि चंगा है तो कठौती में गंगा है। बंधन को अगर दूर कर दिया गया तो समस्त जगत् का गुरुपद अनायास मिल जाता है—

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।
बांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला।

—वही, पृ० ५३

हँसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नही है। मूल बात है चित्त की दृढता। मनुष्य को इस मूल तथ्य को नही भूलना चाहिये। फिर तो हँसने-खेलने मे कोई बुराई नहीं है। काम और क्रोध मे मन न आसक्त हो, चित्त की शिथिलता उसे बहकने न दे तो हँसने-खेलने और गाने-बजाने वाले आदमी से नाथजी प्रसन्न ही होते हैं—

हसिबा षेलिबा रहिबा रग। काम क्रोध न करिबा सग ॥
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत ॥
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान ॥
हसै षेलै न करै मन भग। ते निहचल सदा नाथ के सग ॥

—वही, पृ० ३-४

योगी को वाद-विवाद के बखेडे मे नही पडना चाहिये। जिस प्रकार अडसठ तीर्थ अन्त तक समुद्र मे ही लीन हो जाते हैं उसी प्रकार योगी को गुरु मुख की वाणी मे ही जीर्ण हो जाना चाहिये।

कोई बादी कोई विवादी जोगी कौ बाद न करना
अठसठि तीरथ समदि समावै यू जोगी को गुरुमुषि जरना।

—वही, पृ० ५

योगी जल्दबाजी करके सिद्धि नही पा सकता। उसे सोच समझ कर बोलना चाहिए, फूंक-फूंक कर चलना चाहिये, धीर भाव से एक-एक पग धरना चाहिए। गर्व करना उसके लिये बहुत बुरी बात है। उसका व्यवहार सहज होना चाहिए। यह नही कि जहाँ-तहाँ फटफटा कर बोल उठे, धड-धडाकर चला जाय और उचकता कूदता निकल जाय। धैर्य उसकी सबसे बडी साधना है।

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा
धीरै धरिबा पाव।
गरब न करिबा सहज रहिबा
भणत गोरष राव ॥— वही, पृ० ११

योगी बडी विकट साधना करता है। उसका मन यदि थोडा भी प्रलोभनो से अभिभूत हुआ तो उसका पतन निश्चित है। इसीलिये वह समस्त विकारो के जीतने की साधना करता है। धीर वह है जिसका चित्त विकारो के होते हुए भी विकृत न हो। कालिदास ने कहा था कि "बिकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषान चेतांसित एव धीरा" और गोरखनाथ ने कहा है कि

नो लष पातरि आगे नार्चें पीछैं सहज अपाडा।
ऐसे मन लै जोगी पेलै तब अन्तरि बसै भडारा

—वही, पृ० २१७

विकारो के भीतर से निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार पा लेना निस्सदेह कठिन साधना है। योगी यही करता है। अजन अर्थात् विकारो के भीतर निरजन अर्थात् विकारहीन शिव को उसी प्रकार पा लेना जिस प्रकार तिल मे से कोई तेल निकाल लेता है, योगी का लक्ष्य है। मूर्त जगत के भीतर अमूर्त परम तत्त्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर क्रीडा शुरू होती है जो चरम आनन्द है। गोरखनाथ ने कहा है—

अजन माहि निरजन भेट्या,
तिल मुष भेट्या तेल।
मूरति माँहि अमूरति परस्या,
भया निरन्तरि पेल॥

—वही, पृ० २१७

योगी का आचरण ही वस्तुतः प्रधान वस्तु है, कथनी नही। बडी-बडी बातें बघारना उचित नही है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाले अनेक पदो मे शील की महिमा बताई गई है। केवल योगी ही नही, शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया है—

सहज सील का धरै सरीर।
सो गिरती गगा का नीर॥ —वही, पृ० १७

एक पद मे शिष्य ने गुरु से पूछा है कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन जाता है तो क्षुधा सताती है, नगर मे जाता है तो माया व्यापती है, भर-पेट खाता है तो मन में विकार उत्पन्न होता है। यह कठिन समस्या है कि यह जल-विन्दु-विनिर्मित काया सिद्ध कैसे हो ?

स्वामी वन पडिजाउँ तो षुध्या व्यापै
नग्री जाउँ त माया।
भरि भरि षाउँत विंद वियापै,
क्यो सीझति जलव्यद की काया॥

वही, पृ० १२

गुरु ने मध्यमवर्ग का उपदेश दिया। खाने पर टूट न पडना, बिन खाए भी न रहना दिन-रात अन्तर की ब्रह्म-अग्नि का रहस्य चिन्तन करना, किसी बात पर आग्रह न रखना एक दम निकम्मा भी न हो जाना—ऐसा ही गोरखनाथ कह गए हैं—

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा,
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेव।

हृक न करिवा षड्या न रहिबा,
यूँ बोल्या गोरष देव ॥

—वही, पृ० १२

योगी लोग गृही को बहुत ही दयनीय जीव समझते हैं। उनकी कुछ ऐसी धारणा है कि काम क्रोध का दास ही गृही होता है। एक वार जो गृहस्थाश्रम के बन्धन मे बँध गया वह ज्ञान की बात करने का भी अधिकारी नही रहा। गृहस्थ का ज्ञान, नशेबाज़ का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और वैरागी का माया बटोरना, इनके मत मे समान भाव से निरर्थक हैं।

गिरही को ग्यान अमली को ध्यांन,
बूचा को कान, बेश्या को मान,
बैरागी अर माया स्यूँ हाथ—
या पाँचाँ 'को एकै साथ ॥

—वही, पृ० ७७

क्योकि गृही पाशवद्ध जीव है, उसे ज्ञान मे अधिकार नहीं :

गिरह होय करि कथैग्यान,
अमली होय करि धरै ध्यान।
बैरागी होय करै आसा,
नाथ कहै तीनो षासा पासा ॥

—वही, पृ० ७७

इस मत मे पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन का आदर्श है। गृही मे यह आदर्श नहीं है। बिंदु के सयमन से बडी सिद्धि मिलती है। पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी बिंदु विनिर्मित है, अतएव अशुद्ध है। योगी लोग इसकी अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त सचेत हैं। जब तक माता-पिता का दिया हुआ यह धातुमय शरीर मिटा नही दिया जाता तब तक नाथ-पद तक पहुँचना असभव है। यह असभव नही है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से इस शरीर की अपवित्रता मिटाई जा सकती है और नाथ-पद तक पहुँचा जा सकता है।

मनमुषि जाता गुरुमुषि लेहू,
लोही मास अगनि मुषि देहू।
मात पिता की मेटौ धात,
ऐसा होइ बुलावै नाथ ॥

—वही, पृ० ६१

क्योकि साधना के द्वारा इस जड-शिला के समान अकिचन शरीर को सिद्धि-

योग्य बनाया जा सकता है। नाद और विन्दु अपने आप मे जड-प्रस्तर के समान ही तो हैं, पर उनका उचित उपयोग किया जाय तो ये सिद्धो के साथ मिला देने से समर्थ हैं। नाद-विन्दु का नाम जपते रहने से यह काम नही होगा, यह तो उचित साधना का विषय है .

नाद नाद सब कोइ कहै, नार्दाहू ले को विरला रहै।
नाद विन्द है फीकी शिला, जिहि साध्या ते सिधैं मिला ॥

—वही, पृ० ६१

गोरखनाथ विशुद्ध ब्रह्मचारी को ही इस मार्ग का पाथिव स्वीकार करते हैं। नाद और विन्दु दोनो का संयम आवश्यक है :

यद्री का लटवडा, जिभ्या का फूहडा।
गोरष कहै ते परतपि चूहडा ॥
काछ का जती मुख का सती।
सो सत पुरुष उतमो कथी ॥

—वही, पृ० ५२

इस प्रकार नाद (वाणी) और विन्दु (वीर्य) को संयमित रखने वाला पुरुष साक्षात शिवरूप हो जाता है।

धन जोवन की करै न आस,
चित्त न रावै कांमिनी पास।
नादविन्द जाके घटि करै,
ताकी सेवा पारवती करै।

परन्तु इसके लिए मद्य, भाग धतूरा आदि नशे की चीजो का सेवन करना अनुचित है। पर-निन्दा और नशीली वस्तुओ का सेवन इन दो वातो को नरक का हेतु माना गया है—

जोगी होई पर निंद्या झषै, मद मास अरु भागि जो भषै।
इकोतर सै पुरिषा नरकहि जाई। सति सति भाषत श्री गोरष राई।

—वही, पृ० ५६

अवधू मास भषन्त दया धरम का नास।
मद पीवत तहाँ प्रांण निरास ॥
भागि भषत ग्यांन ध्यांन षोवत।
जम दरबारी ते प्रांणी रेवत ॥

—वही, पृ० ५७

इस प्रकार इस मार्ग मे कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्सयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणो के प्रति अनादर आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी मे पाए जाने वाले पदो मे यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती संतो के लिए आचरण-शुद्धि प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। सन्त साधको को बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी। इस मार्ग की सबसे बडी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस, लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ कठस्वर उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने मे बडा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ कठस्वर ने यहाँ को धार्मिक साधना मे कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नही आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य मे भी इनके कारण दृढता और आचरण शुद्धि भुलाई नही जा सकी है।

१५

उपसंहार

गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी सगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश मे एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र मे कही भी भावविह्वलता नही है। जिन दिनो उन्होने जन्मग्रहण किया था उन दिनो भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन सात्त्विक वृत्ति और अखड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनो अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौडे की चोट से साधु और गृहस्थ दोनो की कुरीतियो को चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन मे जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धो से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरक्षनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होने दुर्बलता नही दिखाई। वे स्वय पडित व्यक्ति थे। पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नही, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नही किया, लोक से भी नही, वेद से भी नही, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कही से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नही कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प और विकल्प मिथ्या है, ससार मृगमरीचिका है, श्रुतियाँ परम तत्त्व के विषय मे भिन्न विचार प्रकट करती हैं और एक अखण्ड सच्चिदानन्द ही सत्य है तो भावावेश का स्थान कहाँ है? क्यो मनुष्य उस तत्त्व की उपलब्धि के लिये मचलने का अभिनय करे, क्यो उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिये यजन-पूजन करे?—

> अविवेक विवेक विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति।
> यदि चैक निरन्तर बोध इति किमुरोदिषि मानस सर्वसम।
> वहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति मते वियदादिरय मृगतोय सम.।
> यदि चैक निरन्तर सर्वशिव' किमु रोदिषि मानस सर्वसम.।
> सविभक्ति विभक्तिविहीन पर मत्युकायनिकायविहीन परम्।
> 'यदि चैक निरन्तर सर्व शिव यजनच कथस्तवनच कथम्'।—अवधूत गीता

—यही गोरक्षनाथ के उपदेशो का सच्चा रुख है। यह नहीं कि यही उनके वाक्य हैं बल्कि यह कि यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वर है—भावावेग विनिर्मुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। इस ज्ञान के निष्कर्ष को उन्होंने सदा सामने रखा। वह निष्कर्ष क्या है, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। यथासाध्य हमने विविध उपलब्ध तथ्यो के आधार पर उसको समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह केवल बुद्धि-विलास नही है, वह साधना का विषय है। दीर्घ आयास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है। उसमे शुद्ध गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधन मार्ग मे निगुरे को कोई स्थान नही है। फिर भी हमने यह जो प्रयत्न किया है उसका कारण यह है कि हमने अपने को नितात असहाय निगुरा नही समझा। सिद्धो की कुछ वाणी अब भी हमारे बीच है, वह महामन्त्र अब भी साधनाकाश मे उड रहा है, अब भी वह उपयुक्त उर्वरा भूमि की प्रतीक्षा कर रहा है। उसको समझने का प्रयत्न अश्लाघ्य नही है। वह महामन्त्र ही हमारा गुरु है। वह गुरु ही सच्चिदानन्द का पद है, वही सब के ऊपर सदा विराजमान है क्यो उस पद को अवाच्य समझा जाय, क्यो उस तत्त्व को अचिन्त्य माना जाय, इसलिये वह जो है सो बना रहे। हम उसे गोरक्षनाथ का साक्षात् तेजः स्वरूप मानते हैं। उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरु है।

अवाच्यमुच्येत कथ पद तत्
अचिन्त्यमप्यस्ति कथ विचिन्तये।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोस्तु कस्मै बत नाथ तेजसे ॥

—गो० सि० स०, पृ० ५२

सहायक ग्रंथों की सूची

१ अद्वयवज्रसग्रह—गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, न० ४०, बडोदा, १९२७ ई०

२ अमरौघशासनम्—सिद्धगोरक्षनाथ-विरचित; महामहोपाध्याय प० मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा सम्पादित, काश्मीर सस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाक २०, बम्बई, १९१८

३ अष्टोत्तरशतोपनिषद:—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ सस्करण १९३२

४ इ० ए०—इण्डियन एण्टिक्वैरी

५ इ० रे० ए०—इनसाइक्लोपीडिया आव् रेलिजन ऐण्ड एथिक्स

६ कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई (हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर), १९४२

७. कबीर ग्रन्थावली——बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९२८

८. कल्याण—गोरखपुर,
(१) शिवाक (२) योगाक (३) शक्ति-अक (४) साधना-अक

९ कैटोलागस कैटोलोगोरम—थियोडोर आफ्रेक्ट, लिपज़िग १८९६

१० कौ० ज्ञा० नि०—कौलज्ञान निर्णय, डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित, कलकत्ता सस्कृत सीरीज, न० ३ कलकत्ता, १९३४

११. कौ० मा० र०—कौलमार्गरहस्य (बगला), स्व० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कलकत्ता, १३३५ बगाब्द

१२ कौलावली निर्णय—तान्त्रिक टेक्स्ट्स, जिल्द १४, आर्थर एवेलेन द्वारा संपादित, कलकत्ता

१३ गगा—पुरातत्त्वाक, श्री राहुल साकृत्यायन के लेख

१४ गभीरनाथ प्रसग (बगला)—श्री अक्षयकुमार बद्योपाध्याय-लिखित फेनी नवाखाली, बगाब्द १३३२

१५ गढ़वाल का इतिहास—श्री हरिकृष्ण रतूडी, देहरादून, १९२८

१६ गीतारहस्य—स्व० लोकमान्य बालगगाधर तिलक, (स्व० माधवराव सप्रे का अनुवाद)

१७. गो० प०—गोरक्ष-पद्धति, प० महीधर शर्मा के भाषानुवाद सहित, बम्बई, सं० १९९० वि०

१८ गोपीचन्द (उर्दू)—पडित कवि कालीदास साहब गुजरानवाला, लाहौर १९४४

१९. गोपीचन्द्रेर गान—दो जिल्द, श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा सकलित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, प्रथम सस्करण
२०. गोरखनाथ ऐण्ड मिडिएवल हिंदू मिस्टिसिज्म—डा० मोहनसिंह लिखित, लाहौर, १९३७
२१. गोरखबानी—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल-सपादित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९९९ वि०
२२. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज्—दे० ब्रिग्स
२३ गो० सि० स०—गोरक्षसिद्धातसग्रह, म० म० प० गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित्त, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, न० १८, काशी १९२५
२४ ग्लासरीज ऑव् दी ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स, आव् दि पजाव ऐण्ड दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविसेज—एच० ए० रोज, जि० ३, लाहौर १९१४ ई०
२५. घेरण्ड सहिता—सेक्रेड बुक आव, दि हिन्दूज, प्रयाग १८९५
२६. चर्याचर्य विनिश्चय—बौ० गा० दो० मे संगृहीत
२७. ज० डि० ले०—जर्नल ऑव् दि डिपार्टमेट आफ लेटर्स, २८ वाँ जिल्द (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४)—मे डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रन्थ—(१) तिल्लोपाद का दोहाकोष (२) सरहपाद का दोहाकोष (३) कण्हपाद का० (४) सरहपादीय दोहासग्रह, (५) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह। इसकी अन्य जिल्दो का भी यथास्थान उल्लेख है।
२८ जायसी ग्रन्थावली—प० रामचन्द्र शुक्ल-सपादित, काशी, १९२४
२९ ज्ञानसिद्धि—गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज न० ४४, वडौदा १९२९
३०. ज्ञानेश्वर चरित्र—प० लक्ष्मण रामचन्द्र पगारकर द्वारा लिखित और प० लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा अनुवादित, गोरखपुर सं० १९९०
३१. ट्रा० का० सें० प्रो०—दि ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् सेण्ट्रल प्राविसेज आव् इडिया, ई० बी० रसेल और रायबहादुर हीरालाल संपादित, चार जिल्दो मे, लन्दन, १९१६
३२ ट्रा० का०—ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविसेज ऐण्ड अवध, विलियम क्रुक, कलकत्ता १८९९
३३. तारानाथ—गेशिष्टे देस् बुद्धिस्मुस् इन इन्डिएन आउस देम् तिबेतिशेन् युबेर सेट्ज़् फन् उन्तन् शिफ़ेर (जर्मन भाषा मे तारानाथ नामक तिब्बती ऐतिहासिक के ग्रन्थ का अनुवाद, जिसके आवश्यक अश का अग्रेजी अनुवाद, लेखक (हु० द्वि०) के लिये डा० एरेन्सन ने कर दिया था।) सेन्टपीटर्सवर्ग, १८६९
३४. दि इन्डियन बुद्धिष्ट आईकोनेग्राफी मेनली बेस्ड अपॉन दि साधनमाला ऐण्ड अदर काग्नेट तान्त्रिक टेक्स्ट्स। बी० भट्टाचार्य द्वारा लिखित आक्सफोर्ड, १९२४
३५. दि पीपुल आफ इण्डिया—हर्बर्ट रिजली, कलकत्ता १९०८
३६. दि सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवेलन लिखित लडन १९१९

३७ दि सेन्सस आव् इण्डिया १६२१, १६३१
३८ नागर-सर्वस्व—पद्मश्री विरचित और तनसुखराम शर्मा द्वारा सपादित बम्बई १६२१
३६ पद्मावती—बिब्लोथिका इन्डिका, न्यू सीरीज न० ११७२ जी० ए० ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, कलकत्ता १६०७
४०. परशुरामकल्पसूत्र—रामेश्वरकृत टीका सहित, गायकवाड ओरियेण्टल सीरीज मे प्रकाशित और वी० ए० महादेव शास्त्री द्वारा सपादित
४१. परसगपूरनभगत (गुरुमुखी)—मियाँ कादरयार कृत लाहौर १६४४
४२ पारानद सूत्र—गायकवाड सीरीज ५६ वडौदा १६३१ ई०
४३. पूरन भगत (उर्दू)—पडित कवि कालिदास साहब शायर, गुजरानवाल द्वारा लिखित लाहौर १६४४
४४ प्र० चि—प्रबध चिन्तामणि—हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित और मुनि श्री जिनविजयजी द्वारा सपादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद कलकत्ता, १६४०
४५ प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि—गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज ४४, वडौदा १६२६
४६ प्राणसगली—सन्त सम्पूरन सिंहजी द्वारा सपादित, तरनतारन, पजाब
४७ डायसन—दि सिस्टम आफ वेदान्त, पी० डायसन शिकागो १६१२
४८ बांगला साहित्येर इतिहास (बगला)—श्री डा० सुकुमार सेन, कलकत्ता, १६४०
४६. बागची—देखो कौ० ज्ञा० नि०
५० ब्रह्मसूत्रम्—शाकरभाष्यसहित, प० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पाणशीकर सपादित बबई १६२७
५१ ब्रिग्स—गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज, श्रीजार्ज वेस्टन ब्रिग्स, लिखित, कलकत्ता १६३८
५२ बौ० गा० दो—बौद्ध गान ओ दोहा (बगाक्षरो मे मुद्रित) स्व० प० हरप्रसाद शास्त्री-सम्पादित, कलकत्ता, १३२३ बगाब्द
५३ भरथरी चरित्र—(नौ खण्ड) हावडा, १६४२ ई०
५४ भारतवर्ष मे जाति भेद—श्री क्षितिमोहन सेन, कलकत्ता १६४०
५५ भारतवर्षीय उपासक सप्रदाय (बगला)—श्री अक्षयकुमार दत्त, कलकत्ता १३१४ बगाब्द (द्वितीय सस्करण)
५६ भारतीय दर्शन—प० बलदेव उपाध्याय, एम० ए० लिखित, द्वितीय सस्करण काशी १६४५ ई०
५७ भ्रमरगीत सार—प० रामचद्र शुक्ल—सपादित, बनारस, १६६६ स०
५८ महार्थमजरी—गोरक्षा पर पर्याय महेश्वर विरचित, काश्मीर सस्कृत ग्रन्थावलि ग्रन्थाक २०

५९. मालतीमाधवम्—जगद्धर कृत टीकासहित, एम० आर० काले द्वारा संपादित, बंबई १९२८
६०. मिडिएवल मिस्टिसिज्म आव् इण्डिया,—श्री क्षितिमोहन सेन, डन १९३५
६१ योग उपनिषदः—अड्यार लाईब्रेरी, अ० महादेव शास्त्री-संपादित, अड्यार १९२०
६२. योगदर्शन (बंगाक्षरो में)—कापिलमठ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
६३ योगप्रवाह—पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल द्वारा लिखित, श्री संपूर्णानंद द्वारा संपादित, काशी सं० २००३
६४. यो० सं० आ०—योगिसंप्रदायाविष्कृतिः चंद्रनाथ योगी, अहमदाबाद १९२४
६५ राजपूताने का इतिहास—म० म० प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित अजमेर
६६. ल नेपाल (फ्रेंच भाषा मे)—नेपाल का इतिहास, सिलवा लेवी, पेरिस, १९०५
६७. वामकेश्वर तंत्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णवः—श्री भास्कररायोनीत सेतुबंध-व्याख्यानसहितः आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ५६ पूना, १९०८ ई०
६८ विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)—हजारीप्रसाद द्विवेदी संपादित, शान्तिनिकेतन, बंगाल
६९ वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलिजियस सिस्टम्स—आर० जी० भाण्डारकर; स्ट्रएवर्ग १९१३
७०. शक्ति एण्ड शाक्त (द्वितीय संस्करण)—जान वुडरफ मद्रास १९२०
७१ शरदातिलक तंत्रम्—आर्थर एवेलन द्वारा संपादित कलकत्ता १९३३
७२. शिवसंहिता—पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१४
७३. श्री गुरुप्रताप सूरज ग्रंथ (गुरुमुखी)—कविचूडामणि भाई सन्तोषसिंह जी, द्वितीय संस्करण श्री वीरसिंह जी द्वारा संपादित, १९३५ ई०
७४ श्री गुह्यसमाजतंत्र—गायकवाड सीरीज नं० ५३, बड़ौदा १९३१ ई०
७५. श्रेडर०—इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्नन संहिता, अड्यार १९१२
७६ स० द० स०—सर्वदर्शन संग्रह, सायणमाधवाचार्यप्रणीत म० म० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर संपादित पूना १९२४ ई०
७७ सहजाम्नाय पंजिका—बौ० गा० दो० मे संग्रहीत
७८ साधनमाला—गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० २६ और ४१ बड़ौदा
७९. सि० सि० स०—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, म० म० प० गोपीनाथ कविराजसंपादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स १३, काशी १९२५ ई०
८०. सु० च०—सुधाकरचन्द्रिका, पदुमावती (ऊपर दे०) पर म० म० प० सुधाकर द्विवेदी की हिन्दी टीका
८१. स्टडीज इन दि तंत्र—पार्ट १, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता १९३९
८२. हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, १९१५ ई०
८३. हिंदुत्व—स्व० रामदास गौड, ज्ञानमण्डल, काशी सं० १९८७ वि०

नामानुक्रमणिका

[मोटे अक्षरो मे छपे शब्द पुस्तको के नाम हैं]

विषयानुक्रमणिका